प्रकाशक

साधना सदन देवनगर नई दिल्ली

प्रथम बार : २१००

१९५९

मूल्य दो रुपये

मुद्रक

[illegible]

निवेदन

हिन्दी-साहित्य और उसकी उत्पत्ति सम्बन्धी विविध प्रवृत्तियों एवं उसके क्रमिक इतिहास पर वैसे तो अनेक ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इस पुस्तक का प्रणयन तथा प्रकाशन एक विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर किया गया है। अभी तक सब पुस्तकों में हिन्दी-साहित्य और उसके विकास की प्रगति का परिचय काल-क्रम से ही दिया गया है। हमने इस पुस्तक में निबन्धों के रूप में हिन्दी-साहित्य और उसके सर्वाङ्गीण विकास का परिचय देकर उसके विभिन्न अंगों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। इसके आधार पर साहित्य के विद्यार्थी बिना आयास के थोड़े ही समय में उसकी विभिन्न चिन्तन-धाराओं एवं गति-विधियों से भली-भाँति अवगत हो जायंगे। हमें आशा ही नहीं प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा-संसार में इसका उचित स्वागत होगा।

लेखक

: १ :

हिन्दी-साहित्य : नये प्रयोग

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ वीर-गाथा-काव्य से होता है। वह समय बड़ी उथल-पुथल और अशान्ति का था। सम्राट् हर्षवर्द्धन की मृत्यु (संवत् ७०४ वि०) के उपरान्त देश में कोई भी केन्द्रीय शासन न रहा और भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। यह राजपूतों के विकास का समय था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर राजपूतों के शक्तिशाली राज्य थे। शक्ति-विस्तार, वीरता-प्रदर्शन, देश-रक्षा और सुकुमारी सुन्दरियों को प्राप्त करने के लिए युद्ध किये जाते थे। राजाओं के आश्रित कवि चारण-भट आदि अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में काव्य-रचना करके उन्हें प्रसन्न किया करते थे।

देश के जिस भू-भाग में जिस समय ऐसी अशान्ति तथा अन्धकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भू-भाग में लगभग उसी समय अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिन्दी-साहित्य अपना शैशव-काल व्यतीत कर रहा था। हिन्दी की इस शैशवावस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशान्ति के उस युग में वीर-गाथाओं की ही रचना सम्भव थी। साहित्य में सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान

पाते, परन्तु परिस्थिति से परिचित होने के लिए हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी।

मुसलमानों का राज्य समस्त भारत में स्थापित हो गया। वीर-गाथाएं समाप्त हुईं। वीर-गाथा-काव्य का अन्त हुआ और भक्ति-काव्य का प्रारम्भ। लगभग ३०० वर्ष तक भक्ति-रस की काव्य-रचना होती रही। भक्ति-काल के पश्चात् रीति-काल आया। यह समय (संवत् १७०० से १६०० तक) विशेष रूप से शृंगार और रीति (अलंकार, रस आदि) सम्बन्धी काव्य-रचना का ही माना जाता है। पर इस युग में भी चारण-काव्य के समान रचनाएं हुई हैं, वीर रस की कविता द्वारा कुछ कवियों ने हिन्दू रक्त को जगाना चाहा। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के पराक्रम की प्रशंसा में ग्रन्थ रचे और सोती हुई हिन्दू जाति में जीवन डालने का प्रयत्न किया। उस समय भूषण, पद्माकर, लाल कवि, जोधराज, सूदन, चन्द्रशेखर आदि कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अनेक वीर-गाथाओं की रचना की।

इन दरबारी कवियों के साथ इनसे बिलकुल विपरीत दूसरी परिपाटी के कवि थे—सन्त कवि। इनका सम्बन्ध राज-दरबारों से न था। ये साधारण जनता के बीच में जीवन बिताते थे और अपने गीतों से जनता में जीवन की आशा जगाये रहते थे। इन सन्त कवियों में सबसे उग्र और विद्रोही मनोवृत्ति के थे कबीर। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक आडम्बरों को एक साथ चुनौती देकर सामन्तवादी रूढ़ियों को ललकारा, समाज के नीचे-से-नीचे वर्गों से उनका सम्पर्क था। इन वर्गों में कबीर ने आत्म-सम्मान की भावना जगाई। ईश्वर एक है, वह हमारा भी है; कोई उच्च वर्ग या उच्च कुल में उत्पन्न होने से ही

बड़ा नहीं हो जाता। कबीर ने उन लोगों की भी खूब खबर ली जो एक ओर तो इस्लाम की महत्ता घोषित करते थे, परन्तु दूसरी ओर जनता को लूटने-खसोटने में किसी तरह की कमी न करते थे, यद्यपि इस उद्योग में उन्हें पूरी-पूरी सफलता नहीं हुई, तथापि यह स्पष्ट है कि कबीर के निर्गुणवाद ने तुलसी और सूर के सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उत्तरीय भारत के भावी धर्ममय जीवन के लिए उसे बहुत-कुछ संस्कृत और परिष्कृत कर दिया। कबीर के समकालीन दादू, मलूक और सुन्दरदास भी उसी विचार-धारा के हैं।

इस प्रकार भक्ति-काव्य में प्रेम-मार्गी और ज्ञान-मार्गी दो शाखाएं हो गईं और दोनों की दिशाएं भी बदल गईं। ज्ञान-मार्गी शाखा के प्रमुख स्तम्भ कबीर ही थे। प्रेम-मार्गी शाखा में निर्गुण और सगुण नाम की दो धाराएं हो गईं। निर्गुण के जायसी, उसमान, नूर मुहम्मद, कासिमशाह आदि मुसलमान कवि प्रमुख हैं। किसी भी हिन्दू कवि ने प्रेम-मार्गी काव्य की एक भी पंक्ति नहीं लिखी, इसी धारा के कवियों ने पिछली धारा के कवियों को प्रबन्ध काव्य की शैली का भी निर्देश किया।

सगुण धारा में राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति नाम की दो काव्य-प्रेरणाओं ने कार्य किया। पहली के प्रमुख कवि तुलसीदास और दूसरी के सूर हैं। तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम को लेकर 'राम-चरित-मानस' की रचना की। यह महाकाव्य विश्व के काव्य-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। इस धारा के कवियों में नाभादास, हृदयराम और प्राणचन्द चौहान आदि अन्य कवि भी हुए हैं, जिन्होंने राम-काव्य की रचना की है। महाकवि केशव ने भी 'राम-

चन्द्रिका' नाम का एक रीति-ग्रन्थ लिखा। अलंकार-योजना, छन्दों की छटा, गति आदि गुण केशव के काव्य की विशेषताएं हैं।

ईसा की चौथी शती से कृष्ण देवता के रूप में माने जाने लगे थे। समय के साथ ही कृष्ण भक्ति का प्रचार भी बढ़ता गया, ईसा की चौथी शताब्दी में वासुदेव (कृष्ण) भागवत धर्म के देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। जयदेव का गीत-गोविन्द इसी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी शृंगार-भावना का उत्कृष्ट उदाहरण है। पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्यापति (१४६० के लगभग) ने कृष्ण (शृंगारी) काव्य की रचना की। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य (संवत् १५३५ से १५८७ वि० तक) ने देश-भर में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। कृष्ण-काव्य में मीरा की कविता का स्थान बहुत ऊंचा है। वे कृष्ण के प्रेम में सदा तल्लीन रहतीं, और कृष्ण-प्रेम की वेल को आँसुओं के जल से सींचती रहती थीं। सूरदास कृष्ण-काव्य के ज्वलन्त नक्षत्र हैं। उनके बिना कृष्ण-काव्य ही अधूरा रह जाय। उनकी रचनाओं में वात्सल्य और शृङ्गार (सयोग और वियोग) रस का चित्रण बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। सूरदास के समान उत्कृष्ट तथा स्वाभाविक वात्सल्य रस का वर्णन करने वाला दूसरा कवि कदाचित् ही हो। उनकी धारा के कवियों में नन्ददास, रसखान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुसरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह आशय भी कदापि नहीं कि सूर, तुलसी तथा उनके पूर्वकालिक कवियों

में आलंकारिकता थी ही नहीं; अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। हिन्दी-साहित्य के इस काल को हम रीति-काल इसलिए कहते हैं कि उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण कर दिया और मुक्तकों द्वारा एक-एक अलंकार, एक-एक नायिका अथवा एक-एक ऋतु का वर्णन किया है। इस काल के प्रमुख कवियों में केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी, देव, भिखारीदास, पद्माकर, भूषण और लाल उल्लेखनीय हैं।

पश्चिम निवासियों द्वारा अनुशासित होने के साथ ही विजित राष्ट्रवादी होने के नाते हमारे साहित्य को बहुत-सी ऐसी घटनाओं के बीच में आना पड़ा, जिससे पिछली प्रगति में कोई नवीनता नहीं दिखाई दी। मुस्लिम-संस्कृति से प्रसूत चेतना के मध्य में अब पश्चिम की जीवित संस्कृति शनैः-शनैः अपना प्रभाव जमा रही थी। धीरे-धीरे प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय जीवन में एक स्फूर्तिदायिनी नवशक्ति का प्रारम्भ हुआ। उत्पीड़न के अस्तित्व ने सामूहिक रूप लिया और अपनी ओर देखने के लिए ललकारा। इस राष्ट्रीयता का सर्व प्रथम जन्म बंगाल में ही हुआ। उस उन्नीसवीं शताब्दी की वह तूफानी लहर सम्पूर्ण बंगाल में फैल रही थी। पहले-पहल जिस देश पर अधिक जमकर, दृढ़ता से इन विदेशियों ने अधिकार किया था--वह बंगाल ही था। इस पश्चिमीय जागृत संस्कृति के संसर्ग में आकर बंगाल में नव चेतना का प्रादुर्भाव हुआ।

इस चेतना की प्रतिक्रिया सर्व प्रथम १८५७ में हुई। परन्तु यह प्रयत्न भी सर्वथा असफल ही रहा। हिन्दी-गद्य भी इस काल में आते-आते अपने विकास की ओर अग्रसर हो रहा था। सैयद इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' लल्लू जी

लाल का 'प्रेम सागर' आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन दिनों बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना भी हो गई थी। सती की प्रथा के विरुद्ध भी बड़ा दृढ़ अन्दोलन चल रहा था। राजा राम-मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे आदि देश की पुञ्जीभूत शक्तियाँ इस प्रतिक्रिया में अपना योग दे रही थीं। पश्चिम के संसर्ग ने भारत में सचमुच एक प्रकार से चेतना का नवीन आलोक दिया। यदि इस आलोक की तीव्रता हमें उत्पीड़ित न करती तो हम कदापि न चेतते। हमने अपने-आपको नहीं पहचाना, हमारे नेत्रों से रीति-काल के मद की खुमारी उतर-सी चली। इसी समय छापे की नवीन कला का भी आविष्कार हुआ। हस्त-लेखन के कष्ट से तत्कालीन लेखक मुक्त हुए। 'भारत-मित्र' आदि समाचार-पत्र भी निकले। गद्य-पद्य को प्रसारित करने में विज्ञान ने पूर्ण सहयोग दिया। यह तो निर्विवाद है ही कि विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्र पर प्रभाव डालेगा, जिससे उसकी जड़ जम सके। ईसाई मिशनरियों का बाइबिल की प्रतियाँ छपवाकर वितरण करना और गाँव-गाँव में इसके लिए दौड़-धूप करना इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

यह स्वामी दयानन्द का युग था। महर्षि की वेद-तुल्य पुनीत वाणी ने भारतीयता के इस अवशिष्ट चिह्न को अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी नहीं मिटने दिया। उस सिंह की दहाड़ उस काल के जीवन के लिए नव चेतना का स्वरूप सिद्ध हुई—सबने अपने स्वरूप को पहचानने की चेष्टा की। इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के उदय ने तो हिन्दी-साहित्य की काया ही पलट दी। बंकिम और राय की प्रतिभा हिन्दी में भारतेन्दु के रूप में जागृत हुई। उनकी रचनाओं में

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्पीड़न का स्पन्दन है, उसका उपचार भी है। भारतेन्दु के समक्ष भारतीय जीवन का लौकिक पक्ष था, वे नवीन संस्कृति के बहाव में आकर भी अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से आँख मूँदना नहीं चाहते थे। उन्हें अपने जीवन में उसी बंगाल की यात्रा करने का अवसर मिल चुका था। वे बंगाल की यात्रा से अपने देश में नव जागृति का संदेश, विधवा-विवाह, शिक्षा-प्रसार तथा सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आदि की स्मृति लेकर लौटे थे। सचमुच उन्हें इस बंगाल की यात्रा ने अपने अनुभव को दृढ़ करने का वास्तविक अवसर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी के आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ। नायिका-भेद वाली कविता की परिपाटी पर काफी कविता हुई और उस परम्परा को खड़ी बोली के कवियों ने ही नष्ट किया। ब्रजभाषा और खड़ी बोली की प्रतिद्वन्द्विता सांस्कृतिक दृष्टि से लाभकारी सिद्ध हुई। खड़ी बोली के कवियों ने उस दरबारी संस्कृति का भी बहिष्कार किया। जिसका ब्रजभाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उर्दू में इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता न थी; फलतः कुछ लोगों ने यह समझा और अब भी समझ रहे हैं कि दरबारी कविता का उर्दू के साथ कोई आध्यात्मिक सम्बन्ध है। भारतेन्दु के युग का यह चतुर्मुखी कोलाहल उनके गद्य और पद्य में वाणी और बल बनकर फूट पड़ा है। पुरानी परिस्थितियों के अध्ययन और वातावरण ने ही भारतेन्दु को नीर-क्षीर-विवेकी, युग का सच्चा प्रवर्त्तक बनाया। इस काल के साहित्यिकों में पंडित बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा ठा० जगमोहनसिंह जी आदि उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं

शताब्दी के अन्तिम चरण में सौभाग्य से कुछ बातें ऐसी हुईं जिनसे हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी सहायता पहुँची। इनमें प्रथम है काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा की स्थापना और द्वितीय 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का प्रयाग से प्रकाशन। सन् १८५० में काशी के उत्साही हिन्दी-प्रेमियों ने, जिनमें बा० श्यामसुन्दरदास का नाम प्रमुख है, मिलकर नागरी-प्रचारिणी-सभा को जन्म दिया। 'सरस्वती' के प्रकाशन से पूर्व हिन्दी में विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रायः सर्वथा अभाव था। संपादक-प्रवर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' ने हिन्दी-साहित्य की प्रगति और प्रचार में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस प्रकार 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' की स्थापना और 'सरस्वती' के प्रकाशन से हिन्दी-गद्य की उन्नति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। भाषा में प्रौढ़ता आई, वह शक्तिशाली बनी और उसमें अनेक सुन्दर शैलियों का आविर्भाव हुआ।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग था। उस युग में साहित्य की सभी धाराओं का विकास हो रहा था। देश-प्रेम और राष्ट्रीयता का संयत स्वरूप अपनाया जा रहा था। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न भी होता दिखाई दे रहा था। सर्व श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक आदि ने सांस्कृतिक निधि के सहारे हमारे देश-प्रेम को अपनी कविताओं में मूर्तिमान कर दिया। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आदि का इस युग में सूत्रपात हो चुका था। 'प्रसाद' और प्रेमचन्द ने भी उसी समय लिखना प्रारम्भ किया था। लेकिन स्वतः द्विवेदी जी का ध्यान भाषा की

व्यवस्था और भारतेन्दु-युग की अस्त-व्यस्तता को दूर करने की ओर ही था। उन्होंने भाषा-संशोधन के साथ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को हिन्दी में लिखने और मातृभाषा की सेवा करने की ओर उन्मुख किया। इस प्रयत्न और १९२०–२१ के राष्ट्रीय आंदोलन के परिणाम स्वरूप साहित्य के क्षेत्र में जिन नये लोगों ने प्रवेश किया उन्होंने अपनी वाणी और लेखनी से राष्ट्रीयता और देश-प्रेम का उद्घोष किया। ऐसे लोगों में सर्वश्री माखन-लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कवियों का एक और वर्ग उत्पन्न हुआ। जिस पर अंग्रेजी संस्कृति और उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के रोमांटिक कवियों अर्थात् कीट्स, शैली, बायरन आदि का प्रभाव था। यह वर्ग भी अपने को सामाजिक बंधनों और राजनीतिक दासता से पीड़ित अनुभव करता था। उसने उसे भुलाने के लिए 'छायावाद' को अपनाया। छायावाद, 'रोमांटिसिज्म' का भारतीय संस्करण-सा है, जो बंगला के द्वारा हिन्दी में आया। पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी इसके अग्रदूत हैं। यद्यपि इसके प्रवर्त्तक 'प्रसाद' पर अंग्रेजी का कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ा और अपने मानसिक द्वन्द्व का हल उन्होंने अतीत प्रेम में ढूंढ़ा है तथापि छायावाद की प्रेम, नैराश्य, वेदना, प्रकृति के साथ तादात्म्य आदि कृतियों की उनमें प्रधानता है। उनकी 'कामायनी' छायावाद का श्रेष्ठ महाकाव्य और विश्व-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। बच्चन' ने 'हालावाद' में अपने दुःख को भुलाया। अन्य कवियों ने भी इन्हीं में से किसी-न-किसी 'वाद' को अपनाया।

सन् १९३५ के बाद प्रगतिवाद का युग आया। यथार्थ

जीवन की कटुताओं को चित्रित करने की ओर लोगों का ध्यान गया। इसका नेतृत्व 'ग्राम्या' 'युगान्त' और 'युगवाणी' के लेखक पंत ने किया। नरेन्द्र, भगवती चरण वर्मा आदि ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। आज तो लगभग सभी कवि इसी ओर झुक रहे हैं। महादेवी, माखनलाल चतुर्वेदी और 'निराला' ने भी 'बंगाल के अकाल' पर कविताएं लिखीं।

हिन्दी में कविता इधर सभी भारतीय भाषाओं से अधिक लिखी गई हैं। कविताओं के बाद उपन्यास और कहानी का स्थान है। कथा-साहित्य में मुन्शी प्रेमचंद ने हिन्दी के लिए ही नहीं, प्रत्युत विश्व के लिए भी अपनी कला दी। पहले महायुद्ध के बाद से दूसरे महायुद्ध के होने तक के भारत का चित्र उनके उपन्यासों से बन जाता है। वे हमारे सर्वाधिक प्रतिभाशाली साहित्यकार थे। उनका स्थान लेने वाला लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। सर्व श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन और ज्वालादत्त शर्मा उसी परम्परा के लेखक हैं। जैनेन्द्रकुमार ने कथा-साहित्य को एक नई शैली दी है। नये लेख कोंमें यशपाल सबसे आगे हैं। सर्व श्री भगवतीचरण वर्मा, अन्नपूर्णानंद, रायकृष्णदास, उपेन्द्रनाथ अश्क, इलाचद्र जोशी, सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, भगवती प्रसाद बाजपेयी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, पहाड़ी, विष्णु प्रभाकर, रामचंद्र तिवारी और श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने अच्छी कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं।

निबन्ध और नाटक हिन्दी में कम हैं। अध्यापक पूर्णसिंह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय आदि के बाद अव्वल तो किसी ने निबन्ध लिखे ही नहीं और लिखे भी तो बहुत-कम। इस ओर से लोग उदासीन-से हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन विश्व-

ख्याति के पुरातत्त्वविद् और विचारक हैं। हिन्दी में इनकी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। नाटकों में 'प्रसाद' के गम्भीर और अनभिनेय नाटकों के बाद श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के अभिनेय नाटक आते हैं। श्री उदयशंकर भट्ट के भाव-नाट्य अच्छे हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के यथार्थवादी नाटक विचारोत्तेजक होने के लिए प्रसिद्ध हैं। गोविन्दवल्लभ पंत के नाटकों में अभिनेयता और साहित्यिकता दोनों गुण हैं। नाटक की अपेक्षा हिन्दी में एकांकी को अच्छी सफलता मिली है। सर्व श्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, सेठ गोविंददास, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', विष्णु प्रभाकर आदि की एकांकी लिखने की कला विकासोन्मुख है।

आलोचनात्मक साहित्य हिन्दी में इधर अपेक्षाकृत अधिक लिखा गया है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' 'तुलसीदास' 'चिन्तामणि' और 'त्रिवेणी' आदि लिखकर समन्वयात्मक समालोचना की नींव डाली। मिश्र बन्धुओं के श्रेणी-विभाजन, द्विवेदी जी के निर्णयात्मक मत और पण्डित पद्मसिंह शर्मा के तुलनात्मक ढंग के बाद शुक्ल जी का ही प्रभाव सर्वोपरि रहा। वे इस क्षेत्र के सम्राट् थे। उनके बाद साहित्य के इतिहास, कवियों और लेखकों पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थों और एक-एक ग्रन्थ पर आलोचनात्मक अध्ययन का ताँता लग गया। नये लेखकों में डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल बड़े सतर्क आलोचक और अनुसन्धान-कर्ता थे। उनकी असमय में ही मृत्यु हो गई। आजकल श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के सबसे बड़े अध्ययनशील आलोचक हैं। वैसे सर्व श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गुलाबराय,

नगेन्द्र, सत्येन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रकाशचन्द गुप्त और डाक्टर रामविलास शर्मा आदि भी आज के विचारशील आलोचक है।

जीवनी-साहित्य का परिष्कार अभी हिन्दी में उतना नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए तथापि इस दिशा में बनारसीदास चतुर्वेदी का 'सत्यनारायण कविरत्न' और 'भारत-भक्त एण्ड्रूज' विशेष उल्लेखनीय हैं। घनश्यामदास बिड़ला का 'बापू' भी अपना विशेष स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त आत्म-कथा-लेखन का भी हिन्दी में नया प्रयोग हो रहा है। इस सम्बन्ध में सर्व श्री गुलाबराय की, मेरी असफलताएं' राहुल जी की 'मेरी जीवन-यात्रा' भदन्त आनन्द कौशल्यायन की 'जो मैं भूल न सका' और 'जो लिखना पड़ा' वियोगी हरि की 'मेरा जीवन-प्रवाह' तथा डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्म-कथा' आदि पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी की 'प्रवासी की आत्म-कथा' तथा श्री हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर' हिन्दी के आत्म-कथा साहित्य की अपूर्व निधि हैं। श्री मलचन्द अग्रवाल की 'पत्रकार की आत्म-कथा' तथा प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मेरी जीवन-झाँकियाँ' पत्रकारिता के विकास पर अच्छा खासा प्रकाश डालती हैं। इधर श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा श्री श्रीराम शर्मा के कुछ आत्म-चरितात्मक लेख भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

जीवन-चरित-लेखन के अतिरिक्त रेखा-चित्रों के अंकन की कला भी इधर नई-नई प्रचलित हुई है। सर्व श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' इस क्षेत्र में मार्ग निर्दिष्ट करते नजर आते हैं। इस प्रकार

हिन्दी-साहित्य के पिछले विकास-काल में अनेक दिशाओं में प्रचुर परिमाण में नये प्रयोग हुए हैं। हिन्दी के विकास के इस स्वर्ण युग में अब और भी नूतन और जीवन-दायी प्रयोग होंगे, ऐसी आशा है।



: २ :

ललित कलाओं में काव्य का स्थान

मनुष्य सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाला प्राणी है। उसे स्वाभाविक रूप से सौन्दर्य की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के द्वारा उसका हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। जब आनन्दातिरेक के कारण वह अपने हृद्गत भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है तब वह कला का आश्रय लेता है।

कलाओं में वही कला सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है जिसमें भौतिक आधार की कमी होती है और जिसमें मानवीय भावों की अभिव्यक्ति को प्राधान्य दिया जाता है। देशी और विदेशी सभी कलाकारों ने इस बात को एक स्वर से स्वीकार किया है।

कलाओं की श्रेष्ठता के लिए आचार्यों ने कलाओं को (ललित कलाओं को) पाँच भागों में बाँटा है। स्थापत्य अर्थात

भवन-निर्माण कला, मूर्ति कला, चित्र कला, संगीत कला और काव्य कला। स्थापत्य कला को सबसे नीचा स्थान दिया गया है, क्योंकि उसमें सामग्री का आधिक्य होता है और भावों की अभिव्यक्ति कम। सच तो यह है कि मानव-जीवन को सचालित करने वाले सुख-दुःख, विषाद-हर्ष, प्रेम-घृणा आदि भावों में से एक-दो भावों को ही स्थान दिया जा सकता है, वह भी स्थूल रूप में; सूक्ष्मता के लिए वहाँ स्थान ही नहीं है। उदाहरण के लिए ताजमहल शाहजहाँ और मुमताज़ के प्रेम तथा वियोग के बीच की गम्भीर छायाओं से परिचित नहीं करा सकता, वह एक झलक-भर दे सकता है। मूर्ति कला में स्थापत्य की अपेक्षा कम सामग्री का उपयोग होता है। वहाँ शिल्पकार अपने मन के अनुरूप भावों को सूक्ष्मता से व्यंजित कर सकता है, मूर्तियों की मुद्राओं से वह बहुत-कुछ गहराइयों के दर्शन करा सकता है। महात्मा बुद्ध की मूर्ति से उनके शांत और क्षमाशील हृदय के परिचय के साथ उनके यशस्वी व्यक्तित्व का भी दर्शन हो सकता है। यह सब होते हुए भी कठिन पत्थर में कोमल भावों की अभिव्यक्ति पूर्णरूपेण नहीं हो सकती। चित्र कला में चित्रकार के पास उपर्युक्त दोनों कलाकारों से कम सामग्री होती है। वह तूलिका और रंगों के सामञ्जस्य से एक अभूतपूर्व वातावरण की सृष्टि कर देता है। मूर्ति कला की अपेक्षा वहां वातावरण की सहायता से चित्रकार को अपने भावों को सजीव रूप देने का अवकाश मिल जाता है, लेकिन चित्र कला में देश-काल का बन्धन होता है और उसकी स्थिरता अखरने लगती है। संगीत में सामग्री भी सूक्ष्म होती है और ध्वनि के आश्रय से ही उसका विकास भी हो जाता है, लेकिन कभी-कभी कोरे आलापों के कारण संगीत

में रस नहीं रहता। भावों का अभाव संगीत की सरलता को नष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त काव्य-कला में स्थूल समग्री का अभाव हो जाता है। वहाँ भाव और भाषा ही उसकी सामग्री का काम देते हैं। कल्पना की उड़ानें भरकर वह भावों को सजीवता प्रदान कर देता है। कवि अपने हृद्गत सत्य का उद्घाटन करने के लिए मस्ती में विभोर होकर गाने लगता है और बिना किसी आडम्बर के मनुष्य की आत्मा को मुक्ति का संदेश देता है। संगीत के आनन्द की भाँति उसका आनन्द अस्थायी नहीं होता, गायक के साथ लुप्त नहीं हो जाता, वरन युग-युग तक जीवित रहता है। कबीर, सूर और तुलसी की वाणी अब तक उसी प्रकार आनन्दित करती है, जिस प्रकार अपने निर्माण के समय करती होंगी। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहा जा सकता है कि काव्य देश-काल के बन्धनों से मुक्त होकर भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों का सामंजस्य करता है।

सारांश यह है कि स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत कला आदि की अपेक्षा काव्य में स्थायित्व अधिक होता है, उसमें मुक्ति का संदेश रहता है, भावों की चरम अभिव्यक्ति के लिए अवकाश मिलता है और लोकोत्तरानन्द का अनुभव होता है। शायद इसीलिए ललित कलाओं में काव्य को प्रधान दी गई है।

काव्य की ऐसी परिभाषा देना जो उसकी समग्रता को व्यक्त कर सके, कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। इस विषय में आचार्यों में भी मतभेद है। लेकिन इतना कहा जा सकता है कि काव्य का सम्बन्ध हृदय से है और उसका जन्म मानव-हृदय को आनन्दित करने के लिए होता है। यदि परिभाषा ही देनी हो तो कहा जा सकता है कि मानव-हृदय में होने वाली विभिन्न प्रकार की सुख-दुःखमयी अनुभूतियों को सुन्दर शब्द-

मयी अभिव्यक्ति देकर उपस्थित करना ही काव्य है।

अब यह प्रश्न उठता है कि काव्य का मानव-जीवन से क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर इसी प्रश्न की जड़ में मौजूद है। जब काव्य का उदय मानव-हृदय से होता है तब उसका मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होना ही चाहिए। मनुष्य के हृदय में उठने वाले प्रत्येक भाव का मानव-जीवन में महत्व है, हृदय का एक-एक स्पन्दन मानव-जीवन की गति का संचालन करता है।

काव्य को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। वह आनन्द की सृष्टि करता है। मनुष्य के जीवन का प्रत्येक कार्य-कलाप आनन्द-प्राप्ति के लिए होता है। जिसमें उसे आनन्द नहीं मिलता उसकी उपेक्षा करना उसका स्वभाव है। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य, जो आनन्द देने वाला है, मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। काव्य में विशाल भावनाओं को स्थान दिया जाता है, वहाँ संकीर्णता के लिए गुञ्जाइश नहीं है, इसलिए वह मनुष्य की आत्मा को विस्तृत करने का प्रमुख साधन है। देश-काल की सीमाओं को काव्य उपेक्षा की दृष्टि से देखता और राष्ट्र तथा जातियों के अनुचित संघर्षों को व्यर्थ ठहराकर मानवता का संदेश देता है। इसके कारण मनुष्य 'वसुधैव कुटुम्बम्' का पाठ पढ़ता हुआ अपने जीवन में मानव-हृदय की एकता का अनुभव करता है।

काव्य में मानव जाति के अनुभवों का संग्रह होता है। संसार के उत्थान-पतन और विकास-ह्रास का सजीव चित्रण होता है, इसलिए उसके अध्ययन से मानव-जीवन में सहानुभूति के साथ-साथ ज्ञान की भी वृद्धि होती है। हम काव्य के अध्ययन से अपने विस्तृत आत्म-गौरव की झाँकी पा सकते हैं। मानव-

जीवन की सैकड़ों पेचीदा गुत्थियाँ, जिनका हल हम व्यावहारिक जीवन में बिना अनुभव के नहीं पा सकते, काव्य के अनुशीलन द्वारा सुगमता से सुलझाई जा सकती हैं।

यही क्यों, जीवन की पवित्रता और चरित्रोत्कर्ष का प्रमुख साधन भी काव्य ही है। व्यक्तिगत जीवन में सभी मानवीय भावों की शुद्धि का अवसर नहीं मिलता। लेकिन काव्य के अध्ययन से मानव की सभी भावनाओं का परिमार्जन हो जाता है, क्योंकि काव्य मानव-हृदय की चित्त-वृत्तियों की रंग-स्थली होता है। काव्य के द्वारा मनोविज्ञान की शिक्षा सुलभता से मिल जाती है। जिसकी वजह से मानव-जीवन में एक दूसरे के भावों को समझने में सरलता होती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि काव्य का मानव-जीवन से अटूट सम्बन्ध है और वह उसे आनन्दोल्लास से पूर्ण रखता है।

अपनी-अपनी रुचि के अनुसार देशी और विदेशी विद्वानों ने काव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाएं की हैं। उनमें आपस में ही काफी मतभेद है। कोई 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाले शब्दों को काव्य कहते हैं, तो कोई 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रस की सृष्टि करने वाला वाक्य ही काव्य है, कहता है। कोई 'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावलंकृति पुनः क्वापि' अर्थात् दोष-रहित, गुण एवं अलंकार युक्त और कहीं-कहीं स्फुट अलंकार न हो, ऐसे शब्द और अर्थ को ही काव्य कहता है, तो कोई 'शब्दार्थौ सहितो काव्यम्' अर्थात् शब्द-अर्थ से युक्त रचना ही काव्य है, कहकर काव्य की परिभाषा करता है। कोई कविता को जीवन की व्याख्या (Poetry is the criticism of life) कहता है तो कोई उसे आत्मा की भाषा कहकर पुकारता है।

ऊपर की परिभाषाओं को देखने पर पता चलता है कि कविता मानव-हृदय को आनन्द से भरने वाली अनुभूतियों की सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति को कहते हैं। कवि अपने को व्यापक बनाकर समस्त सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और रागात्मक सम्बन्ध के पश्चात् वह अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त करता है कि जिसे पढ़कर या सुनकर सहृदय व्यक्ति 'वाह-वाह' कर उठते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि कविता मानव-जीवन के लिए वह साधन प्रस्तुत करती है जो उसकी जीवन-परम्परा को सुरक्षित रखते हुए आनन्द की वर्षा करके मनुष्य के जीवन में सुख और सन्तोष की वृद्धि करते हैं।

इस प्रकार आचार्यों द्वारा दी हुई परिभाषाएं देखने में ही भिन्न हैं, उनके मूल में आनन्द की वृत्ति ही प्रधान है। अतः मानव-हृदय में होने वाली अनुभूतियों की आनन्द देने वाली शब्दमयी अभिव्यक्ति काव्य है।

प्रयोजन की दृष्टि से काव्य के दो भेद होते हैं। १—दृश्य, और २—श्रव्य। जिसे देखकर समझा जा सके, उसे दृश्य-काव्य कहते हैं. और जिसे पढ़कर या सुनकर समझा जा सके, उसे श्रव्य-काव्य कहते हैं। दृश्य-काव्य को पढ़ा भी जाता है, लेकिन रस का अनुभव जितना देखने पर होता है, उतना पढ़ने पर नहीं होता। अभिनय द्वारा ही इसकी सार्थकता है। इसे 'रूपक' भी कहा गया है।

शैली की दृष्टि से श्रव्य-काव्य के गद्य, पद्य और चम्पू तीन भाग किये जाते हैं। गद्य काव्य में उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि सम्मिलित हैं। पद्य में छन्दोबद्ध रचनाएं होती हैं। जिसमें गद्य और पद्य का सम्मिश्रण होता है उसे चम्पू कहते

हैं। आजकल गद्य में भी 'गद्य-गीत' और 'गद्य-काव्य' जैसी रचनाएं प्रचलित हैं। पद्य काव्य के भी प्रबन्ध की दृष्टि से दो भेद किये गए हैं। एक 'प्रबन्ध काव्य' और दूसरा 'मुक्तक काव्य' प्रबन्ध काव्य में एक कथा के सहारे मानव-जीवन का पूरा चित्र उपस्थित होता है। उसके छन्द आपस में सम्बद्ध होते हैं। वे एक दूसरे से ऐसे मिले रहते हैं कि उनके अलग करते ही भावों की शृंखला टूट जाती है।

तुलसी का 'रामचरित मानस', जायसी का 'पद्मावत', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत', रामचरित उपाध्याय का 'राम चरित चिन्तामणि', डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र का 'साकेत-सन्त', पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन', रामधारीसिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' और मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'आर्यावर्त' आदि प्रबन्ध काव्य हैं। मुक्तक में एक छन्द का भाव दूसरे छन्द से 'मुक्त' या स्वतन्त्र होता है। कबीर की साखी, मीरा के पद, बिहारी की सतसई आदि मुक्तक के उदाहरण हैं।

विस्तार की दृष्टि से प्रबन्ध काव्य के भी खंडकाव्य और महाकाव्य, ये दो भेद किये जाते हैं। खंडकाव्य में जीवन के किसी एक अंश का वर्णन होता है, उसी के वर्णन में उसकी पूर्णता मानी जाती है। समग्रता के लिए वहाँ अवकाश नहीं रहता। सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध' और 'पंचवटी' रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक', 'स्वप्न' और 'मिलन' सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय' और उदयशंकर भट्ट का 'तक्षशिला' आदि खंडकाव्य हैं। महाकाव्य में जीवन का पूरा-पूरा चित्र होता है। उसमें विषय की व्यापकता होती है, सभी रसों का परिपाक होता है। उसका आकार खंडकाव्य से बड़ा

होता है। तुलसी का 'रामचरित मानस' और रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित-चिन्तामणि' महाकाव्य के अन्तर्गत हैं।

रमणीयता के अनुसार काव्य के तीन भेद और किये जाते हैं। १—ध्वनि काव्य २—गुणी भूत व्यंग्य ३—चित्र या अलंकार। जहाँ व्यंग्य की प्रधानता होती है, वहाँ ध्वनि काव्य होता है और जहाँ व्यंग्य की अप्रधानता होती है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है तथा जहाँ केवल शब्दों के अर्थ का ही चमत्कार होता है, वहाँ चित्र या अलंकार काव्य होता है। साहित्य-शास्त्र में ध्वनि काव्य को उत्तम, गुणीभूत व्यंग्य काव्य को मध्यम और चित्र या अलकार को अधम कहा गया है।



: ३ :

कविता का जन्म और विकास

कविता से हमारा अभिप्राय उन रमणीय वाक्यों से है जो मन के भाव प्रकट करें तथा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करके आनन्द के उत्पादक हों। यह कविता-शक्ति मानव-हृदय में आदि काल से छिपी है। हृदय में व्यक्त होती है और हृदय में ही पोपित होती है। प्रकृति की वाह्य वस्तुएं कविता-शक्ति के पोपण-में सहायक-मात्र होती हैं। इस वात को यों भी कहा जा सकता है कि मानव-हृदय में रागात्मिका प्रवृत्ति है, जो प्रकृति की वस्तुओं

से उसका प्रेम कराती है और यही प्रेम कविता की अभिव्यक्ति का कारण होता है। तुलसी के शब्दों में कविता की उत्पत्ति इस प्रकार है:—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
स्वाती शारद कहहिं सुजाना॥
जो बरसहिं वर वारि विचारू।
होइ कवित मुक्ता-मणि चारू॥

कविता का स्थान हृदय है। आदि कवि वाल्मीकि के दुःखित हृदय से निकले हुए शब्द स्वयं ही कविता के रूप में प्रकट हो गए। कविता मानव-जीवन का विश्लेषण है। वह अनुभव करने की वस्तु होती है। रमणी के लावण्य की भाँति कविता महाकवियों की वाणी में सुने जा रहे शब्दों से पृथक् अस्तित्व वाली वस्तु होती है। मानव के हृदय-गत भाव जब रागात्मिकता में फूट निकलते हैं तभी कविता का जन्म होता है:—

जलकर चीख उठा वह कवि था

अथवा

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

आत्मिक भावनाओं का, मनोवेगों से भी स्वतन्त्र रहकर स्वभाविक रूप में, शुद्ध रूप में, प्रवाहित होना ही कविता है। इसलिए कह सकते हैं कि मनोवेगों के साहित्य की छन्दमयी रचना ही कविता है।

अब विचार करने की बात यह है कि रागात्मिका प्रवृत्ति सब में है, किन्तु बाह्य प्रकृति या मानव-हृदय के मनोभाव प्रत्येक पर एक-सा प्रभाव नहीं डाल सकते और न सौन्दर्य से मुग्ध करके इतना आनन्द ही उत्पन्न करते हैं जिससे कि इसकी रागा-

त्मिका प्रवृत्ति कविता का प्रस्फुट रूप धारण कर सके। इसलिए जिसके हृदय में सौन्दर्य को प्रकट करने की प्रतिभा है वही व्यक्ति कवि और उसका वाक्य ही कविता है।

कविता में प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से कविता के दो भेद हैं। ऐसी कविता जिसमें देश, समाज व राष्ट्र की बात की चर्चा हो, विषय-प्रधान कविता कही जाती है। ऐसी कविता जिसमें कवि का भाव प्रधान होता है और जिसे कवि लोग स्वान्तः सुखाय अपने अन्तरात्मा के सन्तोष के लिए लिखते हैं और जिस कविता को करते-करते कवि बाह्य संसार से लौट कर अन्तरात्म में लीन व मस्त हो जाता है भाव-प्रधान कविता कहलाती है।

विषय-प्रधान कविता का प्रारम्भ मनुष्य की अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए बाह्य जगत् के साथ संघर्ष कर, जीतने की इच्छा से होता है। वह कर्मवीर थे—जो संग्राम में जूझकर अपनी शक्तियों को विकसित होने देते थे। भाट-चारण इन वीर पुरुषों की गाथा विषय-प्रधान कविता में गाते थे। समयान्तर में यही कविता काव्य, महाकाव्य के रूप में प्रकट हुई। इन कविताओं में समाज तथा राष्ट्र का जीवन चित्रित होता है। रामायण, महाभारत ऐसे ही काव्य हैं।

भाव-प्रधान कविता का स्रोत मनुष्य की केन्द्रानुगामिनी शक्ति और प्रवृत्ति है। बाह्य जगत् की पीड़ा और संघर्ष से खिन्न हुआ अन्दर की ओर देखता है और अन्तर्मुख होकर उसके मुख से जो कविता प्रस्फुटित होती है, उसे भाव-प्रधान कविता कहते हैं। मनुष्य ने इन भावों तथा आवेशों का प्रकाशन हृदय की अव्यक्त ध्वनि तथा उसके साथ सम्भवतः सुख-दुःख की भावनाओं के साथ होने वाले नृत्य के द्वारा किया। संगीत वृत्त में—साहित्य में इसी समय आवृत्त होने वाले

से उसका प्रेम कराती है और यही प्रेम कविता की अभिव्यक्ति का कारण होता है। तुलसी के शब्दों में कविता की उत्पत्ति इस प्रकार है:—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
स्वांती शारद कहहिं सुजाना॥
जो बरसहिं वर बारि विचारू।
होइ कवित मुक्ता-मणि चारू॥

कविता का स्थान हृदय है। आदि कवि वाल्मीकि के दुःखित हृदय से निकले हुए शब्द स्वयं ही कविता के रूप में प्रकट हो गए। कविता मानव-जीवन का विश्लेषण है। वह अनुभव करने की वस्तु होती है। रमणी के लावण्य की भाँति कविता महाकवियों की वाणी में सुने जा रहे शब्दों से पृथक् अस्तित्व वाली वस्तु होती है। मानव के हृदय-गत भाव जब रागात्मिकता में फूट निकलते हैं तभी कविता का जन्म होता है:—

जलकर चीख उठा वह कवि था

अथवा

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

आत्मिक भावनाओं का, मनोवेगों से शासित रहकर स्वाभाविक रूप में, शुद्ध रूप में, प्रवाहित होना ही कविता है। इसलिए कह सकते हैं कि मनोवेगों के साहित्य की छन्दमयी रचना ही कविता है।

अब विचार करने की बात यह है कि रागात्मिका प्रवृत्ति सब में है, किन्तु बाह्य प्रकृति या मानव-हृदय के मनोभाव प्रत्येक पर एक-सा प्रभाव नहीं डाल सकते और न सौन्दर्य से मुग्ध करके इतना आनन्द ही उत्पन्न करते हैं जिससे कि उसकी रागा-

त्मिका प्रवृत्ति कविता का प्रस्फुट रूप धारण कर सके। इसलिए जिसके हृदय में सौन्दर्य को प्रकट करने की प्रतिभा है वही व्यक्ति कवि और उसका वाक्य ही कविता है।

कविता में प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से कविता के दो भेद हैं। ऐसी कविता जिसमें देश, समाज व राष्ट्र की बात की चर्चा हो, विषय-प्रधान कविता कही जाती है। ऐसी कविता जिसमें कवि का भाव प्रधान होता है और जिसे कवि लोग स्वान्तः सुखाय अपने अन्तरात्मा के सन्तोष के लिए लिखते हैं और जिस कविता को करते-करते कवि वाह्य संसार से लौट कर अन्तरात्म में लीन व मस्त हो जाता ह भाव-प्रधान कविता कहलाती है।

विपय-प्रधान कविता का प्रारम्भ मनुष्य की अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए वाह्य जगत् के साथ संघर्ष कर, जीतने की इच्छा से होता है। वह कर्मवीर थे—जो संग्राम में जूझकर अपनी शक्तियों को विकसित होने देते थे। भाट-चारण इन वीर पुरुषों की गाथा विपय-प्रधान कविता में गाते थे। समयान्तर में यही कविता काव्य, महाकाव्य के रूप में प्रकट हुई। इन कविताओं में समाज तथा राष्ट्र का जीवन चित्रित होता है। रामायण, महाभारत ऐसे ही काव्य हैं।

भाव-प्रधान कविता का स्रोत मनुष्य की केन्द्रानुगामिनी शक्ति और प्रवृत्ति है। वाह्य जगत् की पीड़ा और संघर्ष से खिन्न हुआ अन्दर की ओर देखता है और अन्तर्मुख होकर उसके मुख से जो कविता प्रस्फुटित होती है, उसे भाव-प्रधान कविता कहते हैं। मनुष्य ने इन भावों तथा आवेशों का प्रकाशन हृदय की अव्यक्त ध्वनि तथा उसके साथ सम्भवतः सुख-दुःख की भावनाओं के साथ होने वाले नृत्य के द्वारा किया। संगीत वृत्त में—साहित्य में इसी समय आवृत्त होने वाले

एक स्वर शब्दों का आविर्भाव हुआ। अनेक कलाओं के साथ भाव-प्रधान कविता का भी उदय हुआ।

यह भाव-प्रधान कविता गीति-काव्य के रूप में प्रकट हुई। भाव-प्रधान कविता में कवि के हृदय के मनोवेगों की एकता सारे काव्य में दिखाई देती है। कालिदास के 'मेघदूत' में यह विरहाविष्ट मनोवेग आदि से अन्त तक दिखाई देता है। भाव-प्रधान कविता का कवि दृश्यमान, भावोत्तेजक सौन्दर्य में विलीन हो जाता है और कई अवस्थाओं में अपने-आपको भूल जाता है और उस आत्म-विस्मरण में उसके हृदय से जो उद्‌गार निकलते हैं, मधु-मक्षिकाओं की भाँति सच्चा भाव प्रधान अपने प्रयत्नों में विफल होने पर भी, वह अमृतमय एकत्व रस को पीता रहता है। भाव-प्रधान कवि श्रोता तथा अपने बीच में मनोवेगों तथा भावों द्वारा एकता स्थापित करके यथेच्छ छन्द में उसे रचता है। उसे इस छन्द-रचना में प्रयत्न करना पड़ता है, परन्तु एक बार कविता बन जाने पर वह फिर उसी में छिप जाता है और उसकी रचना उसका स्वाभाविक उद्‌गार प्रतीत होती है।

कविता का जन्म कब हुआ, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। कविता काल की परिधि में सीमित नहीं है। उसका रूप नित्य मनोरम है, समय व्यतीत होने पर उसका माधुर्य्य और भी बढ़ जाता है। इंग्लैंड का प्रसिद्ध कवि और उपन्यास-लेखक टामस हार्डी कहा करता था कि काव्य की रचना में विचार तो उसके युग के, परन्तु भाव सर्वकालीन होते हैं।

सृष्टि-रचना के साथ ही कविता की रचना समझिए। प्रकृति स्वयं कविता है। पत्तियों के हिलने में, कोयल के गाने में, एकान्त तारों की ज्योति में, नदी की तरंग में, तड़ाग की गम्भीरता में, विद्युत् की आभा में, मृग के करुण नयनों में, शिशु के टूटे-फूटे शब्दों में, कान्ता की सरलता में, पिता के वात्सल्य में, माता की ममता में, कविता का वास है। जब वृक्ष की डालें पृथिवी की ओर झुकती हैं, उनके झुकने में कविता है। जब मयूर वर्षा के समय नृत्य करता है, जब मनुष्य अज्ञात अजेय ईश्वर की आराधना करता है, जब पुरुष प्रेयसी को अपना हृदय अर्पित करते हुए असंगत वार्तालाप करता है, जब प्रासाद में, गुफा में, सौरभ में, शब्द में मनुष्य ईश्वर को पाता है, जब संसार में मनुष्य सबसे बड़ी वस्तु अपने भाव और अपने विचार को समझता है, तब कविता की उत्पत्ति होती है। लोकोत्तर आह्लाद, हृदय-द्रावी संताप, आकाश- भेदी आशा, आजीवन स्नेह—इनसे कविता का गूढ़ सम्बन्ध है। प्रतिदिन पृथिवी पर, आकाश में, हृदय में, क्रिया में, विचार में कविता विद्यमान है। यह समझना भूल है कि कवि सपनों के संसार में ही रहता है। हमारे साथ, हमारे नित्य के जीवन में, हमारे प्रत्येक कार्य में, समूह में, एकान्त में कविता है। कविता किसी समय भी मानव-जीवन से पृथक् नहीं हो सकती।

जिस कविता को पढ़ते ही हृदय द्रवित हो जाय, वही उत्तम कविता है। पद्य में यदि कोई ऐसा गुण हो जिससे हमारे विना प्रयत्न किये ही, वह हमें स्मरण हो जाय तो हृदय में और स्मृति में उसका अटल वास हो जाता है। ऐसी कविता काल और समय की अपेक्षा नहीं रखती।

तू दयाल, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मो सो।
मो समान आरत नहीं, आरत-हर तो सो॥
तोहि मोहि नातो अनेक, मानिवे जो भावै।
त्यों-त्यों 'तुलसी' कृपाल, चरण शरण आवै॥

तुलसी के यह पद तीन सौ वर्ष पूर्व लिखे गए हैं, किन्तु आज भी ये कितने सुन्दर हैं। भाव कैसा हृदयंगम है। विपत्ति के समय प्रार्थना करते समय आज भी यही शब्द सहसा स्मरण आते हैं।

इसी प्रकार सूर के पद देखिये:—

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल वहाँ ते सजनी, सुनियत दूर सिधारे॥
वे जल-सर हम मीन बापुरी कैसे जीवहिं किनारे।
हम चातक चकोर श्याम घन बदन सुधा निधि प्यारे॥
मधुबन बसत आस दरसन की जोह नैन मग हारे।
'सूर' श्याम करी पिय ऐसी मृतकहु ते पुनि मारे॥

इन पदों में कविता का स्वर सुन पड़ता है—इनकी ध्वनि बहुत समय तक कानों में रहती है। [illegible] विता जिस गति से चल रही थी, जिस मार्ग का [illegible] कर रही थी, जिन शाखाओं और शैलियों में [illegible]।—इनमें अब बड़ा परिवर्तन हो गया है। [illegible] विस्तृत हो गया है। नवीन विचार [illegible] लगा है। हिन्दी-कविता पर [illegible] कृतियों का बहुत-कुछ प्रभाव [illegible] में संस्कृत छन्दों का प्रयोग, अनु[illegible]

५

वृत्तों की रचना, बोल-चाल की भाषा का प्रयोग, व्याकरण के नियमों का उल्लंघन-ये कुछ काव्य-कला सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषताएं हिन्दी-कविता में पाई जाती हैं। काव्य के विषय में अन्तर होगया है। नख-शिख-वर्णन, नृप-प्रशंसा, नायक-नायिका-भेद इन प्राचीन कवि-प्रिय विषयों पर अब बहुत कम कविता लिखी जाती है।

ब्रज भाषा, जो लगभग तीन सौ वर्ष तक हिन्दी-कविता की प्रधान भाषा रही, अपनी प्रधानता खो रही है। पश्चिमीय प्रान्त के हिन्दी-प्रेमियों को यह कृत्रिम मालूम होने लगी। फारसी और उर्दू से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने ब्रज भाषा का विरोध करना प्रारम्भ किया और पं० नाथूराम शंकर, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक और बा० मैथिलीशरण गुप्त ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली को आसन देने में सफल हुए। इसमें सन्देह नहीं कि खड़ी बोली ब्रज भाषा की अपेक्षा सामान्य जनता के लिए अधिक सरल सिद्ध हुई, परन्तु साथ ही सैकड़ों वर्ष की चिर-संचित ब्रज भाषा की मधुर सम्पत्ति जाती रही।

इसमें संशय नहीं कि हिन्दी-कविता में वास्तविक काया-पलट हो रही है। कवि एक ओर तो संसार के मानव-जीवन के जटिल प्रश्नों में उलझता है, दूसरी ओर स्थूल जगत् से कोसों दूर भागता है। कुछ कवि तो ऐसे हैं जिनका हृदय दुःख के क्रन्दन से द्रवीभूत हो गया है, केवल विषाद, विरह, पीड़ा के स्वर जिनको सुन पड़ते हैं, जिनकी दृष्टि में मिलन का अन्त विरह है और हास्य की सीमा रुदन। कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन्हें देश की दशा से अत्यन्त ग्लानि और शोक होता है, जो पराधीनता से मृत्यु को अच्छा समझते हैं और जो अपने राग

तू दयाल, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मो सो।
मो समान आरत नहीं, आरत-हर तो सो॥
तोहि मोहि नातो अनेक, मानिवे जो भावे।
त्यों-त्यों 'तुलसी' कृपाल, चरण शरण आवे॥

तुलसी के यह पद तीन सौ वर्ष पूर्व लिखे गए हैं, किन्तु आज भी ये कितने सुन्दर हैं। भाव कैसा हृदयंगम है। विपत्ति के समय प्रार्थना करते समय आज भी यही शब्द सहसा स्मरण आते हैं।

इसी प्रकार सूर के पद देखिये:—

नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल वहाँ ते सजनी, सुनियत दूर सिधारे॥
वे जल-सर हम मीन वापुरी कैसे जीवहिं किनारे।
हम चातक चकोर श्याम घन बदन सुधा निधि प्यारे॥
मधुवन बसत आस दरसन की जोह नैन मग हारे।
'सूर' श्याम करी पिय ऐसी मृतकहु ते पुनि मारे॥

इन पदों में कविता का स्वर सुन पड़ता है—इनकी ध्वनि बहुत समय तक कानों में रहती है। हिन्दी-कविता जिस गति से चल रही थी, जिस मार्ग का अनुकरण कर रही थी, जिन शाखाओं और शैलियों में विभक्त थी—उनमें अब बड़ा परिवर्तन हो गया है। विचार-क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। नवीन विचार-धाराओं का प्रभाव पड़ने लगा है। हिन्दी-कविता पर देश-देशान्तर के कवियों की कृतियों का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा है। वर्तमान काल में संस्कृत छन्दों का प्रयोग, अतुकान्त छन्दों का प्रयोग, नये

वृत्तों की रचना, बोल-चाल की भाषा का प्रयोग, व्याकरण के नियमों का उल्लंघन-ये कुछ काव्य-कला सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषताएं हिन्दी-कविता में पाई जाती हैं। काव्य के विषय में अन्तर होगया है। नख-शिख-वर्णन, नृप-प्रशंसा, नायक-नायिका-भेद इन प्राचीन कवि-प्रिय विषयों पर अब बहुत कम कविता लिखी जाती है।

ब्रज भाषा, जो लगभग तीन सौ वर्ष तक हिन्दी-कविता की प्रधान भाषा रही, अपनी प्रधानता खो रही है। पश्चिमीय प्रान्त के हिन्दी-प्रेमियों को यह कृत्रिम मालूम होने लगी। फारसी और उर्दू से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने ब्रज भाषा का विरोध करना प्रारम्भ किया और पं० नाथूराम शंकर, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक और बा० मैथिलीशरण गुप्त ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली को आसन देने में सफल हुए। इसमें सन्देह नहीं कि खड़ी बोली ब्रज भाषा की अपेक्षा सामान्य जनता के लिए अधिक सरल सिद्ध हुई, परन्तु साथ ही सैकड़ों वर्ष की चिर-संचित ब्रज भाषा की मधुर सम्पत्ति जाती रही।

इसमें संशय नहीं कि हिन्दी-कविता में वास्तविक काया-पलट हो रही है। कवि एक ओर तो संसार के मानव-जीवन के जटिल प्रश्नों में उलझता है, दूसरी ओर स्थूल जगत् से कोसों दूर भागता है। कुछ कवि तो ऐसे हैं जिनका हृदय दुःख के क्रन्दन से द्रवीभूत हो गया है, केवल विषाद, विरह, पीड़ा के स्वर जिनको सुन पड़ते हैं, जिनकी दृष्टि में मिलन का अन्त विरह है और हास्य की सीमा रुदन। कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन्हें देश की दशा से अत्यन्त ग्लानि और शोक होता है, जो पराधीनता से मृत्यु को अच्छा समझते हैं और जो अपने राग

में देश-प्रेम और देशाभिमान के भाव जागृत करते हैं। कुछ और कवि हैं जो संसार से अपना नाता नहीं जोड़ना चाहते, जिन्हें बाह्य जगत् शून्य और मिथ्या मालूम पड़ता है, जो अपनी भावना के लोक में ही विहार करते हैं। शरच्चन्द्र की ज्योति, हिमालय का युग, छाया, अन्ध गुफा, वाष्प, नीहार, इनमें इन्हें संसार से हटकर, नर-नारियों से दूर शान्ति मिलती है, यथार्थ तत्व का अवलोकन होता है। इन सभी रूपों की कविता इस समय हिन्दी में लिखी जा रही है।

नवीन शैली के कुछ कवियों ने राजनैतिक अन्दोलन के प्रभाव से भाषा को सरल और सुगम बनाया। कुछ ब्रज भाषा में ही कविता करते रहे और कुछ ने भाषा को जटिल और संस्कृतमयी बनाया। इस अन्तिम श्रेणी के कवियों पर बंगला साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। जो भी बंगला के पिछले ६० वर्ष की कविता से अभिज्ञ है वह स्वयं देख सकता है कि कितनी समानता बंगला और आधुनिक हिन्दी-कविता में है। जिन कवियों को ब्रज भाषा पुरानी मालूम पड़ी, उन्होंने संस्कृत की शरण ली। इसका फल इतना अवश्य हुआ है कि आरम्भ की खड़ी बोली में जो कर्कशता और ग्रामीणता थी, वह जाती रही। प्रारम्भ की खड़ी बोली में काव्योचित मधुरता नहीं थी। उदाहरण के लिए देखिये:—

ध्यान लगाकर जो तुम देखो, सृष्टि की सुघराई को।
बात-बात में पाओगे, उस ईश्वर की चतुराई को॥

(श्रीधर पाठक)

अहा ग्राम्य-जीवन भी क्या है,
क्यों न इसे सबका मन चाहे।

थोड़े में निर्वाह यहां है,
ऐसी सुविधा और कहां है ॥
(मैथिलीशरण गुप्त)

यह पद तुकान्त है, किन्तु कितने रूखे, कविता से कितनी दूर, यथार्थ कविता की भाषा इनसे कितनी भिन्न हैं। इनको तो सुन्दर गद्य भी नहीं कह सकते। आज की कविता इनसे बहुत आगे बढ़ गई है। भाषा में रात-दिन का अन्तर, स्वर दूसरा, राग दूसरा, और युग दूसरा। इतना परिवर्तन केवल पन्द्रह वर्ष में ही हुआ है।

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व की पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन।
(सुमित्रानन्दन पन्त)

तुमने समझा मधु-पान किया ?
मैंने निज रक्त प्रदान किया।
उर क्रन्दन करता था मेरा।
पर सुख से मैंने गान किया।
मैंने पीड़ा को रूप दिया।
जग समझा मैंने कविता की।
मैं एक सुराही मदिरा की॥
(बच्चन)

इन कवियों पर, इनके समकालीन कवियों पर, बंगला और उर्दू की कविता-शैली का, उन साहित्यों के नाद, सुर और राग का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

बाह्य स्वरूप से भी अधिक काव्य के अन्तरात्मा पर बंगला का प्रभाव पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कई अंशों में अंग्रेजी कवि शैली का अनुकरण किया है। उन्होंने प्रेम को संसार का मूल तत्व माना है। साथ ही वेदान्त के तत्वों को भी अपनी कविता में विशेष स्थान दिया है। हिन्दी के छायावादी कवियों के विषय में यह कहना असत्य न होगा कि वे रवीन्द्रनाथ के अनुयायी हैं। साथ ही फ़ारसी के सूफी कवियों का भी प्रभाव अनेक कवियों में मिलता है। स्थूल जगत् से कवि असन्तुष्ट है। भावना का जगत, स्वप्न का जगत्, विचार का जगत्, न केवल निस्सीम है, भेद सुन्दर और सत्य भी है। जड़ पदार्थ और चेतना में भेद नहीं है। समस्त विश्व की आत्मा वेदनामयी है, शोक-संतप्त है। इसकी व्यथा मनुष्य की व्यथा से भिन्न नहीं है। एक ही आत्मा के दो रूप हैं—रूप केवल कामिनी के मुख पर ही नहीं है, नभ में और पुष्प में भी है। कला का संसार भी अत्यन्त रमणीक और विशाल है। चाहे जिस छवि से मुग्ध हो, वह विश्व-छवि का रूप है। नक्षत्रों से, तड़ित से, कुसुम से, लहरों से, ओस से, स्वप्न से मनुष्य को संदेशा मिलता है, स्नेह का राग सुन पड़ता है, प्रकाश फैलता है। उदाहरण के लिए नीचे का पद देखिये :—

> स्पृहा के विश्व, हृदय के हास ?
> कल्पना के सुख स्नेह-विकास।
> 　　　　फूल तुम कहां रहे अब फूल ?
> अनिल में बनकर ऊर्मिल-गान,
> स्वर्ग-किरणों में भर मुस्कान,

झूलते हो झोकों की झूल।
फूल तुम कहां रहे अब फूल ?

देखा जाय तो आधुनिक कविता में प्रकृति-वर्णन यथार्थ रूप में है। पुराने कवियों ने भी प्रकृति का वर्णन किया है। अस्तु, काल-क्रम से इनके वर्णन में स्वाभाविकता की कमी हो गई। मृग और चकोर तथा चन्द्रमा की चर्चा तो सब करते रहे, मेघ, कोयल और मयूर का भी यथा-विहित वर्णन होता रहा, परन्तु यह सब अस्वाभाविक था। यह बहुत कम पद्यों से पता चलता था कि कवि ने स्वयं इनको देखकर किसी भाव का अनुभव किया था। ऐसा भास होता है कि साहित्य में इनका वर्णन कवि ने पढ़ा है और उसके चित्त पर प्राकृतिक-साक्षात-प्रभाव नहीं, वरन् साहित्यिक प्रभाव पड़ा है। कविता में प्रकृति का उल्लेख करना कवि अपना कर्तव्य समझने लगा था। जड़ पदार्थ में चेतनता प्रदान करना, पशुओं और पक्षियों में मनुष्य के भाव और विचार का प्रदर्शन, प्रकृति और मनुष्य में समानता देना सच्चे कवि का ही काम है। प्रकृति-वर्णन आधुनिक कविता में बड़े सुन्दर ढग से मिलता है:—

सरसी उसको फिर मिली एक, जिसमें आकाश नहाता था।
नभ हंस उतर तरंग में जिससे डूब-डूब उतराता था॥
अलस कमलिनी ने कलरव सुन उन्मद अंखियां खोलीं।
मल दी ऊषा ने अम्बर में दिन के मुख पर रोली॥

\+ \+ \+

लहर-लहर कर यदि चूमे तो।
किंचित् विचलित मत होना॥
होने दो प्रतिबिम्ब-विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना॥

लो मेरे तारों के गजरे,
निर्झर स्वर में यह गाना ॥
यदि प्रभात तक आकर कोई, तुमसे हाय ! न मोल करे।
तो फूलों पर आम स्वर में बिखरा देना सब गजरे॥

हिन्दी-कविता का अभी और रूपान्तर क्या होगा, कौन कह सकता है ? भविष्य-वाणी की शक्ति साधारण मनुष्य में कहाँ ? युग के साथ-साथ आज कविता भी बदलती जा रही है। छायावाद और रहस्यवाद के बखेड़ों से भी अब लोग ऊब चुके हैं। आज के तरुण कवि प्रगतिवाद की ओर अग्रसर हैं। यद्यपि प्रगतिवादी कविता भी रहस्यवाद और छायावाद की भाँति सर्व-प्रिय हुई है, तथापि उसमें भी परिवर्तन होते देर नहीं लगेगी।



: ४ :

महाकाव्य

'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' संस्कृत के आचार्यों के मतानुसार काव्य की यही परिभाषा है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि कालरिज ने भी इसी विचार की पुष्टि की है। संगीतमय शब्द-चयन ही कविता है। 'रसात्मक' वाक्य वह है जिससे हृदय

में रस की लोकोत्तर आनन्द को प्रदान करने वाली भावना की सृष्टि हो। संस्कृत साहित्य में काव्य के दो भेद किये गए हैं—दृश्य और श्रव्य। श्रव्यकाव्य के भी दो भेद माने गए हैं, गद्यात्मक और पद्यात्मक। पद्यात्मक श्रव्य काव्य के भी दो भेद किये गए हैं—महाकाव्य और खंडकाव्य। महाकाव्य किसी आदर्श जीवन का पूर्ण विश्लेषण है। इसमें नायक की सम्पूर्ण परिस्थितियों का विविध छन्दों तथा विविध भाव और विचारों सहित वर्णन किया जाता है। उसमें एक या अनेक प्रधान रस तथा अवसर के उपयुक्त संचारी भाव होते हैं। महाकाव्य में प्रकृति आदि का चित्रण करना भी अनिवार्य है।

इन महाकाव्यों में समाज का जीवन चित्रित होता है। रामायण, महाभारत ऐसे ही महाकाव्य हैं। इनमें मूल लेखक का व्यक्तित्व समयान्तर में लुप्त व अदृश्य हो जाता है। भारत तथा भारत-निवासी जनता की सभ्यता इसमें चित्रित हो जाती है। ग्रीस के 'इलियड ओडीसी' और इटली के 'एलाइन' महाकाव्य क्रमशः ग्रीस और रोम की सभ्यता का वर्णन करते हैं। इंग्लैंड में भी मिल्टन कृत 'पैराडाइज़ लास्ट' तथा टैनीसन का 'इडलिस आफ दी किंग' इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। प्राचीन हिन्दी-साहित्य में खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा विजयपाल रासो ऐसे ही विषय-प्रधान महाकाव्य हैं।

इन महाकाव्यों की रचना करने वाले कवि होने वाली घटनाओं की तह में अदृश्य देवी-देवताओं की सत्ता में विश्वास कराते हैं। संसार की दृश्यमान घटनाओं तथा शक्तियों के पीछे अधिष्ठात्री देवी की कल्पना करने की प्रवृत्ति प्राचीन काल में पाई जाती है। इन देवी-देवताओं के ऊपर एक और देवता की भी कल्पना की जाती थी, जिसे भाग्य अथवा दैव कहा जाता

था। महाकाव्यों में मुख्यनायक तथा अन्य पात्र संघर्ष करते हुए इन देवी-देवताओं के सामने अपने को विवश हो समर्पित कर देते थे। रामायण, महाभारत में नायकों, मुख्य पात्रों तथा वानर-सेना तक को देवी-देवताओं से उत्पन्न हुआ माना गया है। इन देवी-देवताओं की कृपा से मनुष्य को वरदान द्वारा उत्साहित किया जाता है। शाप आदि द्वारा उसे परखा जाता है। रामायण, महाभारत के देवी-देवता मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाते हैं।

ग्रीस, रोम तथा मुस्लिम महाकाव्यों में भी देवी-देवताओं का आधिपत्य है। वहाँ मनुष्य इन देवी-देवताओं के सामने हार खाता है। इनके आदर्श के अनुसार मनुष्य इस लोक में ऐश्वर्य तथा दीनता तक सीमित रहकर अन्त में दैव-जन्य क्लेश में लड़ता-झगड़ता हुआ उन्हें सवर्स करते हुए छोड़ देता है। इनके आदर्श के अनुसार मनुष्य के हाथ में संघर्ष करते हुए नाम व कीर्ति को प्राप्त करना ही वीर मनुष्यों का काम है। शास्त्रीय महाकाव्य मनुष्य को देवी-देवताओं के अधीन करके भी उसका अन्त मंगलमय बनाते हैं। यूरोपीय महाकाव्य उसका अन्त संघर्षमय, क्लेशमय बनाते हैं। इसलिए यूरोपीय साहित्य में दुःखान्त काव्यों व नाटकों की अधिकता है।

यूरोपियन दृष्टिकोण से इन महाकाव्यों को दो भागों में बाँटा गया है—प्राकृतिक और अनुकारिक। प्राकृतिक महाकाव्यों में मनुष्य के प्रकृति-संघर्ष से पैदा होने वाले निर्भयता, सहनशीलता और साहस-प्रियता आदि गुणों का वर्णन होता है। साहस-प्रियता गुण के कारण वीर-गाथाओं वाला साहित्य पैदा होता है। इसमें तात्कालिक मानव-समाज की प्रवृत्तियों का वर्णन होता है। रामायण तथा महाभारत में तत्कालीन साहस-

प्रिय प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है। 'इलियड' में ग्रीस में प्रचलित प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है।

परन्तु ऐसी रचना, जो रामायण, महाभारत और इलियड के कथानकों के आधार पर लिखी गई हो और उनमें मानव-समाज की जिन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, वह रामायण, महाभारत तथा इलियड-कालीन अवस्थाओं से भिन्न हो तो वह काव्य अनुकारिक महाकाव्य कहलायेंगे। इन अनुकारिक महाकाव्यों में कवि का व्यक्तित्व, उसके समकालीन मानव-समाज की जटिल अवस्थाओं का वर्णन होता है। यह काव्य प्राकृतिक-नैसर्गिक अथवा मौलिक होने की अपेक्षा काल्पनिक अधिक हैं। इन अनुकारिक महाकाव्यों में कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा समाज की रचना करके, प्राचीन महाकाव्यों के कथानकों का आधार लेकर अपने काव्य की रचना करता है। संस्कृत के शिशुपाल वध, रघुवंश आदि महाकाव्य इसी श्रेणी के हैं। हिन्दी के 'प्रिय-प्रवास' 'साकेत' आदि महाकाव्य अनुकारिक महाकाव्य हैं। ये अनुकारिक महाकाव्य जिस समय लिखे जाते हैं—उस समय युद्ध तथा संघर्ष को साहस-कृत्य नहीं मानते। उस समय समाज के निरन्तर होने वाले विकास के कारण कई प्रकार मति-भेद, आचार-भेद, व्यवहार-भेद पैदा हो जाते हैं। जिनके कारण कोई आदर्श या सिद्धान्त पैदा नहीं किया जा सकता, जो सबके लिए समान रूप से आकर्षक हो। प्राकृतिक काव्यों में कवि का व्यक्तित्व नहीं रहता—अनुकारिक काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है।

इन महाकाव्यों की रचना-शैली में और साहित्य के दूसरे अङ्ग नाटक, उपन्यास आदि की रचना-शैली में भेद का होना स्वाभाविक है। नाटक तथा उपन्यासों में नाटककार या

था। महाकाव्यों में मुख्यनायक तथा अन्य पात्र संघर्ष करते हुए इन देवी-देवताओं के सामने अपने को विवश हो समर्पित कर देते थे। रामायण, महाभारत में नायकों, मुख्य पात्रों तथा वानर-सेना तक को देवी-देवताओं से उत्पन्न हुआ माना गया है। इन देवी-देवताओं की कृपा से मनुष्य को वरदान द्वारा उत्साहित किया जाता है। शाप आदि द्वारा उसे परखा जाता है। रामायण, महाभारत के देवी-देवता मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाते हैं।

ग्रीस, रोम तथा मुस्लिम महाकाव्यों में भी देवी-देवताओं का आधिपत्य है। वहाँ मनुष्य इन देवी-देवताओं के सामने हार खाता है। इनके आदर्श के अनुसार मनुष्य इस लोक में ऐश्वर्य तथा दीनता तक सीमित रहकर अन्त में दैव-जन्य क्लेश में लड़ता-झगड़ता हुआ उन्हें संघर्ष करते हुए छोड़ देता है। इनके आदर्श के अनुसार मनुष्य के हाथ में संघर्ष करते हुए नाम व कीर्ति को प्राप्त करना ही वीर मनुष्यों का काम है। भारतीय महाकाव्य मनुष्य को देवी-देवताओं के अधीन करके भी उसका अन्त मंगलमय बनाते हैं। यूरोपीय महाकाव्य उसका अन्त संघर्षमय, क्लेशमय बनाते हैं। इसीलिए यूरोपीय साहित्य-में दुःखान्त काव्यों व नाटकों की अधिकता है।

यूरोपियन दृष्टिकोण से इन महाकाव्यों को दो भागों में बाँटा गया है—प्राकृतिक और अनुकारिक। प्राकृतिक महाकाव्यों में मनुष्य के प्रकृति-संघर्ष से पैदा होने वाले निर्भयता, सहन-शीलता और साहस-प्रियता आदि गुणों का वर्णन होता है। साहस-प्रियता गुण के कारण वीर-गाथाओं वाला साहित्य पैदा होता है। इसमें तात्कालिक मानव-समाज की प्रवृत्तियों का वर्णन होता है। रामायण तथा महाभारत में तत्कालीन साहस-

प्रिय प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है। 'इलियड' में ग्रीस में प्रचलित प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है।

परन्तु ऐसी रचना, जो रामायण, महाभारत और इलियड के कथानकों के आधार पर लिखी गई हो और उनमें मानव-समाज की जिन अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, वह रामायण, महाभारत तथा इलियड-कालीन अवस्थाओं से भिन्न हो तो वह काव्य अनुकारिक महाकाव्य कहलायंगे। इन अनुकारिक महाकाव्यों में कवि का व्यक्तित्व, उसके समकालीन मानव-समाज की जटिल अवस्थाओं का वर्णन होता है। यह काव्य प्राकृतिक--नैसर्गिक अथवा मौलिक होने की अपेक्षा काल्पनिक अधिक हैं। इन अनुकारिक महाकाव्यों में कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा समाज की रचना करके, प्राचीन महाकाव्यों के कथानकों का आधार लेकर अपने काव्य की रचना करता है। संस्कृत के शिशुपाल वध, रघुवंश आदि महाकाव्य इसी श्रेणी के हैं। हिन्दी के 'प्रिय-प्रवास' 'साकेत' आदि महाकाव्य अनुकारिक महाकाव्य हैं। ये अनुकारिक महाकाव्य जिस समय लिखे जाते हैं—उस समय युद्ध तथा संघर्ष को साहस-कृत्य नहीं मानते। उस समय समाज के निरन्तर होने वाले विकास के कारण कई प्रकार मति-भेद, आचार-भेद, व्यवहार-भेद पैदा हो जाते हैं। जिनके कारण कोई आदर्श या सिद्धान्त पैदा नहीं किया जा सकता, जो सबके लिए समान रूप से आकर्षक हो। प्राकृतिक काव्यों में कवि का व्यक्तित्व नहीं रहता—अनुकारिक काव्य में कवि का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है।

इन महाकाव्यों की रचना-शैली में और साहित्य के दूसरे अङ्ग नाटक, उपन्यास आदि की रचना-शैली में भेद का होना स्वाभाविक है। नाटक तथा उपन्यासों में नाटककार या

साहित्यकार को अपने उद्देश्य तक क्रमशः पहुँचने के लिए निर्धारित पात्रों द्वारा निश्चित, संकुचित तथा मर्यादित मार्ग से चलना पड़ता है। महाकाव्य का कवि वर्णन-शैली द्वारा स्वतन्त्र होकर चलता है। वह अपनी रचनाओं को प्रसंगागत सूचनाओं से सुन्दर बना सकता है। वह मनुष्य जाति के लिए आवश्यक अनेक प्रकार के साधनों तथा उपकाव्यों का वर्णन कर सकता है। परन्तु ऐसा करते हुए उसे खयाल रखना चाहिए कि कहीं वह गौण बातों के स्वच्छन्द वर्णन में इतना तो नहीं उलझ गया कि मूल तत्व ही आँखों से ओझल हो गया हो। इस प्रकार के वर्णनों से उसकी रचना में बहुविधता आने से, कहीं-कहीं मुख्य घटना में विरोध डालने से पाठक के हृदय में उत्सुकता और जिज्ञासा में शिथिलता पैदा हो जाती है। और वह कवि कोशिश करता है कि यह सब विविध उपकरण तथा वर्णन एकतामय समन्वयता में परिपक्व होकर पाठकों के हृदय में विशेष रस को उत्पन्न करें। इस रस के आस्वाद में बार-बार पढ़ने पर भी पुनः पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है। इसीलिए कहा जाता है कि इन महाकाव्यों का पारायण करते रहना चाहिए। इनमें मानव-जाति की प्रारम्भिक, प्राकृतिक प्रवृत्तियों का जैसा आकर्षक वर्णन मिलता है—जिस दिन से वह मानव-समाज को प्रकृति की ओर आकृष्ट करते हैं—वैसा अन्य अनुकारिक काव्यों में नहीं मिल सकता।

रामायण तथा महाभारत की भाँति ऐतिहासिक परम्परा के महाकाव्यों की रचना करना एक बड़ा भारी कदम उठाना है, युग-विकास का एक अनिवार्य प्रभाव है। आधुनिक काल में सर्वप्रथम पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'बुद्ध-चरित्र' लिखा, जो

इस परम्परा का प्रथम प्रयास है। इस परम्परा में मैथिली-शरण गुप्त की 'यशोधरा' चरित्र-चित्रण की दृष्टि से खूब सफल हुई है। गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' और उदयशंकर भट्ट का 'तक्षशिला'; फिर गुप्त जी का 'सिद्धराज,' अनूप शर्मा का 'सिद्धार्थ,' श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दी घाटी' हर-दयालुसिंह का 'दैत्यवंश' और प्रतापनारायण पुरोहित का 'नल-नरेश' उल्लेखनीय रचनाएं हैं। डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र के 'साकेत-संत' को हम अनुकारिक महाकाव्य मान सकते हैं। प्रसाद जी की 'कामायनी' एक पौराणिक महाकाव्य का स्थान रखती है। यह मानव- जीवन की आलोचना करने वाला एक महत्वपूर्ण काव्य है। इसमें गीति और प्रबन्धकाव्य का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है।

'कामायनी' का विषय आदि-पुरुष मनु और मानव-इतिहास की प्राचीन घटना जल-प्लावन पर आधारित है। यदि देखा जाय तो यह कथानक 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' की कथा से भी ऊँचा उठ गया है। इस कथानक के कुछ अंश ऋग्वेद, छान्दोग्य उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि से लिये गए हैं। कहीं-कहीं पर कथा-शृंखला को मिलाने के लिए कवि ने कल्पना-शक्ति से भी काम लिया है। मनु ने श्रद्धा के सह-योग से देवों से विलक्षण एक नवीन संस्कृति का अनुष्ठान किया। मनु ने जीवन से असन्तुष्ट हो कर कहा था:—

देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले॥
हां कि गर्व-रथ में तुरङ्ग-सा,
जितना जो चाहे जुत ले॥

इड़ा के प्रभाव से मनु ने बुद्धिवाद का आश्रय लिया और

राज्य-स्थापना की, किन्तु अधिक सुख की खोज में दुःख ही मिला:—

'देश बसाया पर उजड़ा है, सूना मानस-देश यहाँ ।'

कथा में एक प्रकार के रूपक का भी आभास मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता का विकास हुआ। बुद्धि के विकास से मानव ने नवीन पथों पर सुख की खोज की। फिर भी वह पूछता है:—

तो क्या फिर मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या करना होगा ?
देव बता दो अमर वेदना,
लेकर कब मरना होगा ?

कथानक का प्रवाह पहले सर्गों में कुछ धीमा है। ऐसा जान पड़ता है मानो कवि ने चिन्ता, आशा, काम, लज्जा आदि शीर्षकों से स्वतन्त्र गीतों की रचना की हो। किन्तु पिछले भाग में कथा का स्रोत फूट निकला है। उसकी गति प्रबल हो गई है। छन्द-परिवर्तन आदि से तथा सजग कल्पना से कवि ने कथानक को कभी नीरस नहीं होने दिया।

कामायनी में तीन चरित्र-चित्र प्रधान हैं, मनु, श्रद्धा और इड़ा। मनु के चरित्र में भारी हलचल है। मनुष्य-मात्र के वे प्रतिनिधि हैं। श्रद्धा के चित्रण में सबसे अधिक अनुभूति है। इड़ा के चरित्र की रेखा सुस्पष्ट है, वैसे उसमें अधिक रङ्ग भरा भी नहीं है। मनु संसार से असंतुष्ट होकर कहते हैं:—

तुम कहती हो विश्व एक लय है, मैं उसमें
लीन हो चलूँ ? किन्तु धरा है क्या सुख इसमें ?
क्रन्दन का निज एक अलग आकाश बना लूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।

आदि-पुरुष के चरित्र में जो गम्भीरता और शान्ति पाई जाती है, वह यहाँ नहीं है। श्रद्धा के चित्र में उन्होंने सुन्दर रङ्ग भरे हैं :—

मसृण गान्धार देश के नील
रोम वाले मेषों के चर्म-
ढक रहे थे उसका वपु कान्त
वन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ वन बीच गुलाबी रङ्ग॥

श्रद्धा के मुख से नारी की दुर्बलताओं का वर्णन कराया है:—

यह आज समझ तो पाई हूँ,
मैं दुर्बलता में नारी हूँ।
अवयव की सुन्दर कोमलता,
लेकर मैं सबसे हारी हूँ॥

श्रद्धा में एक प्रकार की कोमलता है। इसके विपरीत इड़ा कुछ कठोर मालूम होती है। श्रद्धा का आत्म-समर्पण पूर्ण हुआ। इड़ा मनु को नियम की मर्यादा में बाँधकर रखना चाहती है। अन्त में श्रद्धा की ही विजय होती है। यहाँ नियम से अधिक प्रेम को स्थान दिया गया है।

कथा के पीछे प्रकृति निरन्तर उपस्थित रही है। हम प्रकृति को इस कथानक का चौथा पात्र कह सकते हैं। पात्रों की भाग्य-लिपि के अनुसार ही प्रकृति में बसन्त, ऊषा अथवा प्रलय के

चीत्कार प्रकट होते हैं। जब मनु और श्रद्धा का मिलन हुआ, तब प्रकृति का स्वरूप भी कितना कोमल और सरल है:–

मधुमय बसन्त जीवन वन के
वह अन्तरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले प्रहरों में॥

जब मनु और इड़ा में मतभेद हो जाता है तो प्रकृति भी क्षुब्ध हो उठती है:—

इधर गगन में क्षुब्ध हुए सब देव--शक्तियाँ क्रोध भरी।
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी॥

वास्तव में कामायनी में प्रकृति का चित्रण बड़ा ही मार्मिक एवं अभूतपूर्व किया गया है। 'प्रसाद' के शब्द-चित्र भी बड़े सुन्दर बनते हैं:—

खुली उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें।
हृदय-कुसुम की खिली अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें॥

आपकी उपमाएं भी अधिकतर प्रकृति से ली गई हैं:—

नीरव निशीथ में लतिका-सी,
तुम कौन आ रही हो बढ़ती।

'प्रसाद' को सुर-धुन-से चमकीले रंग बहुत प्रिय हैं—नीले, लाल, सुनहले। इन चटकीले रंगों के कारण आपके काव्य में आलोक-सा भासित होता है:—

सन्ध्या घनमाला की सुन्दर,
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट।

गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ,
पहने हुए तुषार-किरीट ॥

'प्रसाद' जी जीवन को कर्म-क्षेत्र मानते हैं। प्रेम और श्रद्धा से जीवन सफल हो जाता है। ज्ञान और तप दोनों में ही नीरसता है। सेवा को आप तप से बढ़कर समझते हैं। तपस्वी के प्रति आप कहते हैं:—

एक तुम यह विस्तृत भू-खण्ड
प्रकृति-वैभव से भरा अमंद।
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ चेतन का आनन्द॥
अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार।
तपस्वी; आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार॥

इड़ा का ज्ञानवाद जीवन की पहेली सुलझाने में असफल रहा। आगे चलकर 'प्रसाद' जी ने ज्ञान के शुष्क-क्षेत्र का चित्र भी खींचा है:—

प्रियतम यह तो ज्ञान क्षेत्र है,
सुख-दुःख से है उदासीनता।
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है,
बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता॥

'कामायनी' में जीवन का एक बड़ा भारी मनोहारी चित्र है:-

वह देखो रागारुण जो है
ऊषा के कंदुक-सा सुन्दर।
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर॥

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ।
चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ॥
यह जीवन की मध्य भूमि है
रस-धारा से सिंचित होती।
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पन्दित होती॥

माया के इस रंगीन जाल से निकलना कितना कठिन है, स्वयं कवि ने शायद अनुभव किया है। 'प्रसाद' जी का कहना है कि जीवन सुख के ताने-वाने से बुना है:—

अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख-दुःख बँधते एक डोर हैं।
...कैसे सुलझें उलझीं सुख-दुःख की लड़ियाँ।

फिर भी कवि का भावुक हृदय दुःख से ही अधिक प्रभावित होता है। बार-बार कवि का हृदय दुःख-भार से चीत्कार कर उठता है। मनु के स्वर में स्वयं प्रसाद जी बोलते हैं:—

जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के।
आने दो कितनी आती हैं,
बाधाएं दम संयम बनके॥

मनुष्य कठोर कर्म-चक्र में फँसा है,

कर्म-चक्र-सा घूम रहा है,
यह गोलक बन नियति प्रेरणा।
सबके पीछे लगी हुई है,
कोई व्याकुल नई एषणा॥

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय,
विकल प्रवर्तन महा चन्द्र का।
क्षण-भर भी विश्राम नहीं है,
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का॥

'प्रसाद' की कविता में दुःखवाद है, विद्रोह नहीं। कर्म-भार को आप कर्मवीर बनकर सँभाल लेते हैं:—

कर्म यज्ञ से जीवन के,
सपनों का स्वर्ग मिलेगा।
इसी विपिन में मानस की,
आशा का कुसुम खिलेगा।

संसार के सभी बड़े-बड़े कवि जीवन के दुःख से ही अधिक द्रवित हुए हैं। इस देश और युग की परिस्थितियाँ देखते हुए यह दुःखवाद और भी स्वाभाविक लगता है।

कामायनी' में उच्च काव्य के अनेक गुण हैं। इसमें रस, माधुरी, कल्पना, भावुकता, विचार-प्रौढ़ता सभी का समावेश है। जीवन की जटिलता, उसका आकर्षण, उसकी पीड़ा सबकी यहाँ झाँकी मिलेगी। अपने इन सभी गुणों के कारण 'कामायनी' को एक महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है।

'आधुनिक' युग में गीति-काव्य का प्रवाह अधिक होने पर महाकाव्य बहुत कम लिखे जाने लगे हैं। सर्व श्री द्वारिका-प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' रामधारीसिंह 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने 'आर्यावर्त' और डाक्टर बलदेव-प्रसाद मिश्र ने 'साकेत-सन्त' की रचना करके इस ओर साहसपूर्ण कदम बढ़ाया है।

✤

: ५ :

खण्ड-काव्य

जिस श्रव्य काव्य में किसी महापुरुष के जीवन के एक ही अङ्ग का विश्लेषण हो उसे खंड-काव्य कहते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने 'खंडं-काव्यं भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च' कहा है। अर्थात् खंड-काव्य वह है जो किसी महानायक के जीवन के एक ही पहलू अथवा एतत्सम्बन्धी एक ही घटना पर प्रकाश डाले। 'साहित्य-दर्पण' में इसकी परिभाषा इस प्रकार है:—
'तत्तु घटनाप्राधान्यात् खंडकाव्यमिति स्मृतम्' अर्थात् खण्ड-काव्य वह है जो किसी घटना विशेष को लेकर लिखा जाय। खंड-काव्य की रचना एक ही घटना के आस-पास होती है। खंड-काव्य का उद्देश्य नायक के चरित्र पर प्रकाश डालना ही नहीं, वरन् उसी घटना-विशेष में नायक की कार्य-पद्धति का वर्णन करना भी है। सम्पूर्ण काव्य में एक ही छन्द का प्रयोग होता है।

जब हम उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में खंड-काव्यों की रचना-परम्परा पर दृष्टि डालते हैं तो हमें अधिकांश रूप में निराशा ही होती है। इसका मूल कारण देश और समाज की स्थिति है। यह एक मानी हुई बात है कि देश और समाज की जिस समय जैसी स्थिति होगी, उस समय वैसे ही साहित्य का निर्माण होगा। महाकाव्य और खंड-काव्य की रचना के लिए नियमित जीवन, अनुकूल परिस्थिति और शान्त वातावरण की आवश्यकता है। कवियों को विभिन्न वातावरण में विविध प्रकार की रचनाएं लिखना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में महा-

काव्य एवं खंड-काव्य बहुत कम लिखे गए हैं। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें नियम-बन्धन की विशेष परवाह नहीं की गई है। फिर भी यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास के विविध कालों में जो खंड-काव्य लिखे गए हैं, उनसे खंड-काव्य की परम्परा तथा प्रवृत्ति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। यह परम्परा नौ सौ वर्ष के दीर्घ काल के घेरे में किसी-न-किसी अंश में प्रचलित रही है और आज भी, उसकी प्रगति मन्द होते हुए भी, वह जीवित है।

सं० १०५० से १३७५ तक का समय हिन्दी-साहित्य का आदिकाल माना जाता है। यह समय भारत में अशान्ति का समय था। देश में छोटे-छोटे राज्य स्थापित थे। ये राजा आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। कवि लोग जिन राजाओं के आश्रित रहते थे, उन्हें वीरता का उपदेश देते थे। इसीलिए उस समय 'पृथ्वीराज रासो' और 'बीसलदेव रासो' जैसे वीर रस-प्रधान काव्य-ग्रन्थ लिखे गए। यह ग्रन्थ यों तो प्रबन्ध-काव्य तथा वीर-गीत-काव्य माने जाते हैं, किन्तु कई अंशों में हम इन्हें महाकाव्य और खंड-काव्य भी कह सकते हैं। वीर रस के प्रसिद्ध कवि जगनिक के 'आल्ह-खंड' की रचना भी इसी समय हुई। इस लोकप्रिय काव्य में बहुत-सी ओजस्वी कथाएं तथा आल्हा-ऊदल के वीर जीवन का आकर्षक वर्णन है। आल्ह-खंड को हम महाकाव्य की श्रेणी में रख सकते हैं। किन्तु इसके विविध अध्याय—जैसे पथरीगढ़ की लड़ाई—स्वयं एक खंड-काव्य हैं। इसलिए हम इसे कई खंड-काव्यों का संग्रह कहें तो अनुचित न होगा।

आदिकाल के पश्चात् सं० १३७५ से १७०० तक हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल माना जाता है। इसे भक्ति-काल भी

कहते हैं। लगभग तीन सौ वर्ष के दीर्घकाल में भारत में भक्त कवियों ने अपनी अमृतवाणी द्वारा जिस आध्यात्मिक और वात्सल्य रस कीधारा बहाई, साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्व है। उस समय खंड-काव्यों कीरचना नहीं के बराबर हुई है। हाँ, कुछ मुसलमान सूफी कवियों ने उसकी परम्परा को प्रचलित करने में अवश्य योग दिया है। कुतुबन की 'मृगावती', उसमान की 'चित्रावली', शेख नबी का 'ज्ञान-दीप' और नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' सुन्दर काव्य-ग्रन्थ हैं। ये रचनाएं किसी-न-किसी प्रेम-कहानी के आधार पर की गई हैं। यद्यपि खंड-काव्य की परिभाषा के अनुसार इनमें एक ही प्रकार के छन्द दोहा-चौपाई का प्रयोग हुआ है और भाव तथा विचारों से भी पूर्ण हैं, किन्तु इनकी कहानियों के नायक कुछ ऐसे अजीबो-गरीब हैं कि वह न तो कोई आदर्श ही उपस्थित करते हैं और न उनके द्वारा किसी प्रधान घटना का ही उल्लेख मिलता है। इन सूफी कवियों में मलिक मोहम्मद जायसी अवश्य इस कोटि के कवि थे जिनका 'पद्मावत' एक उत्कृष्ट एवं आध्यात्मिक महाकाव्य माना जाता है। हिन्दी-साहित्य में 'पद्मावत' जायसी की एक अभूतपूर्व देन है। इस काल के अन्त में केशवदास के काव्य-ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। जहाँ उन्होंने महाकाव्य के गुणों से युक्त 'रामचन्द्रिका' की रचना की, वहाँ 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' तथा 'वीर सिंह जू देव चरित्र' जैसे उत्कृष्ट खंड-काव्य लिखकर इस प्रणाली को जीवित रखा है।

इसी काल में गोस्वामी तुलसीदास, नरोत्तमदास और आलम-तीन ऐसे कवि हुए जिनकी रचनाओं द्वारा खण्ड-काव्य की परम्परा चलती रही। गोस्वामी जी के 'कवितावली'

'गीतावली,' 'जानकी-मङ्गल' और 'पार्वती-मङ्गल' ऊँचे दर्जे के खण्ड-काव्य हैं, नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित्र' भी एक उत्कृष्ट एवं लोकप्रिय खण्ड-काव्य है, जिसके छन्द साधारण लोगों को भी कंठस्थ हैं। कहानी के प्रधान नायक भगवान् कृष्ण हैं। वर्णन बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। ब्रजभाषा के माधुर्य और करुणा रस से ओत-प्रोत यह काव्य खण्ड-काव्यों की उत्कृष्ट कोटि में रखा जाता है। एक छन्द देखिए--जिस समय भगवान् कृष्ण का द्वारपाल सुदामा जी के आने की सूचना देता है--उस समय सुदामा जी की दरिद्रता का कितना सजीव चित्रण कवि ने किया है:—

शीश पगा न झगा तन में, प्रभु जाने को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु, पाइ उपाहन को नहीं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकिसों वसुधा अभिरामा।
पूछत दीन दयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

इसी प्रकार आलम का 'माधवानल काम कंदला' एक सुन्दर खंड-काव्य है। जो शृंगार और प्रेम से ओत-प्रोत है।

इसके पश्चात् सं० १७०० से १९०० तक का समय रीति-काल का माना जाता है। इस काल में शृङ्गार-रस-प्रधान कविताएं ही अधिक लिखी गईं। कुछ इने-गिने कवियों को छोड़कर किसी ने भी खंड-काव्यों की रचना नहीं की। फिर भी खंड काव्य की परम्परा को बनाये रखने में सबलसिंह चौहान, लाल, सूदन, पद्माकर, ब्रजवासीदास और चन्द्रशेखर के काव्य-ग्रन्थ प्रमाणस्वरूप पेश किये जा सकते हैं। सूदन का 'सुजान-चरित्र' लाल का 'छत्रप्रकाश' और चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ, ऊंचे दर्जे के खंड-काव्य हैं। भाव, विचार, शैली

आदि कई दृष्टियों से ये खंड-काव्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

इसके पश्चात् हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। इस युग में काव्य-साहित्य का पर्याप्त उत्कर्ष हुआ। ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। भाव और विचार-धारा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। कवियों ने प्राचीन परिपाटी को छिन्न-भिन्न करके स्वाधीनता के साथ आगे बढ़ने की अपूर्व हिम्मत दिखाई। वे आचार्यों द्वारा निर्धारित काव्य के जटिल नियमों की बिना कुछ परवाह किये हुए आगे बढ़ते गए। फिर भी परम्परा का कुछ तो प्रभाव रहना ही चाहिए। इसलिए यह युग भी खंड-काव्य की रचना से विहीन नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस युग में अधिक खंड-काव्य नहीं लिखे गए, फिर भी जो लिखे गए, वे अत्यन्त सुन्दर और उच्चकोटि के हैं, इनकी भाषा ब्रज और खड़ी दोनों ही हैं। ब्रज-भाषा में पं० श्रीधर पाठक, रायबहादुर ला० सीताराम और बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने अनूदित तथा मौलिक छन्द काव्यों की रचनाएं कीं, पाठक जी ने 'गोल्डस्मिथ' के दो प्रसिद्ध काव्यों का 'भ्रान्त पथिक' और 'ऊजड़ ग्राम' नाम से तथा कालिदास के 'ऋतु संहार' का हिन्दी में अनुवाद किया है। लाला सीताराम ने कालिदास के कई काव्य-ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद किया। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने तीन खंड-काव्यों की रचना करके इस परम्परा को गतिशील बनाये रखने में विशेष रुचि दिखलाई। उनके 'हरिश्चन्द्र,' 'गङ्गा-वतरण' तथा 'उद्धव-शतक' काव्य हिन्दी-साहित्य में ऊँचा स्थान रखते हैं। 'हरिश्चन्द्र' में सत्यवादी हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा का वर्णन है। 'गङ्गावतरण' की कथा भी

पौराणिक है । महाराजा भागीरथ ने गङ्गा को पृथिवी पर लाने के लिए किस प्रकार उद्योग किया तथा सगर के पुत्रों का किस प्रकार उद्धार किया ; इन्हीं रोचक घटनाओं पर यह काव्य रचा गया है। इसकी भाषा मधुर, सरल, ओजमयी तथा प्रवाहपूर्ण है।

'रत्नाकर' जी का तीसरा खंड-काव्य 'उद्धव-शतक' है । एक प्रकार से इसे हम विचित्र खंड-काव्य भी कह सकते हैं। इसमें उद्धव और गोपियों के सम्वाद की आध्यात्मिक भावनाओं का इतनी सरलता के साथ चित्रण किया गया है कि उसका हृदय पर बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ता है। 'रत्नाकर' जी के काव्यों में यह सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

इसी समय में पंडित नाथूराम शङ्कर शर्मा के दो खंड-काव्यों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। 'वायस-विजय' और 'गर्भ रंडा रहस्य'। 'वायस-विजय' में पंचतन्त्र के काकोलूकीय प्रकरण अर्थात् कौओं और उल्लुओं के युद्ध की कथा का मनोरञ्जक वर्णन है। इनमें आल्हा अथवा वीर छन्द की प्रधानता है।

'गर्भ रंडा रहस्य' में कवि ने एक विधवा के मुँह से उसकी करुण आत्म-कथा सुनवाई है। प० नाथूराम शङ्कर शर्मा खड़ी बोली के कवियों में ऊँचा स्थान रखते हैं । करुण रस, ओजपूर्ण शब्दावली और रोला छन्द, इन तीनों के सम्मिश्रण से यह काव्य और भी आकर्षक बन गया है। इस काव्य के पहले ही छन्द से वर्णित विषय का अनुभव हो जाता है। देखिए :—

शुद्ध एक अखिलेश और सब सपना-सा है।
विधवा दल का दुःख विलपता अपना-सा है॥

मैं अपनी अनभूति अमंगल दरसाती हूं।
उच्च कुलों पर आज अश्रु-विष बरसाती हूं॥

खड़ी बोली की प्रौढ़ धारा में 'हरिऔध' जी ने 'प्रिय-प्रवास' तथा 'वैदेही-वनवास' लिखकर जिस प्रकार महाकाव्य की परम्परा प्रचलित रखी, उसी प्रकार बा० मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ-वध' लिखकर खंड-काव्य की स्थिरता बनाये रखी। इस काल में गुप्त जी का 'जयद्रथ-वध' ही ऐसा खंड-काव्य है, जिसकी रचना आचार्यों की परिभाषा के अनुरूप हुई है। महाभारत के जयद्रथ-बध की कथा इस काव्य का आधार है। हरि-गीतिका जैसे मधुर छन्द के प्रयोग से यह काव्य और भी आकर्षक और हृदय-ग्राही बन गया है:—

मेरे हृदय के हार हा! अभिमन्यु अब तू है कहाँ?
दृग खोलकर बेटा तनिक तो देख हम सबको यहाँ।
मामा खड़े हैं पास तेरे, तू मही पर है पड़ा,
हा! गुरुजनों के मान का तो बोध था तुझको बड़ा।

गुप्तजी का 'पंचवटी' काव्य भी एक श्रेष्ठ खंड-काव्य है। रामायण के कथानक से 'पंचवटी' में राम, लक्ष्मण, सीता के वनवास की घटनाओं के आधार पर यह रचा गया है। गुप्त-जी का 'जयद्रथ-वध' यदि वीर रस-प्रधान खंडकाव्य है तो 'पंच-वटी' सरस और करुण रस-पूर्ण है। गुप्त जी के छोटे भाई सियारामशरण ने भी 'मौर्य-विजय' और 'रङ्ग में भंग' दो छोटे खंड-काव्य लिखे हैं। इन दोनों खंड-काव्यों के लिखने में राजपूत और मौर्यकाल की दो ऐतिहासिक घटनाओं का आधार लिया गया है। इस प्रकार गुप्त-बन्धुओं के इन खंड-काव्यों द्वारा खड़ी बोली की कविता को बड़ा प्रोत्साहन मिला है।

खड़ी बोली के कवियों में पं० रामनरेश त्रिपाठी के खंड-काव्यों का उल्लेख आवश्यक है। 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' तीन काव्यों को लिखकर त्रिपाठी जी ने भी खंडकाव्यों की परम्परा को प्रचलित रखने में पूरा योग दिया है। यद्यपि इन काव्यों की कहानी काल्पनिक है; किन्तु पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा भाव-विचारों से पूर्ण वर्णन-शैली में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। इन काव्यों का खड़ी बोली के काव्यों में अपना विशेष स्थान है। 'पथिक' जीवन-जागृति-पूर्ण, 'मिलन' सरस और 'स्वप्न' सामयिक खंड-काव्य है। 'पथिक' का पहला चरण कितना सरस, सुन्दर और प्रकृति-पर्यवेक्षण से भरा है:—

राग रथी रवि राग पथी अविराग विनोद बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सवेरा॥
एक पथिक अति मुदित उदधि के बीच विचुम्बित तीरे।
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे॥

खड़ी बोली के नवीन काल में नई भावना और विचारों के आ जाने से काव्य की दिशा में प्रचुर परिवर्तन हुआ। इसी काल की कविताओं को छायावाद के नाम से पुकारा गया। इस समय यद्यपि मुक्तक गीत तथा स्फुट कविताओं का बाहुल्य है, फिर भी खंड-काव्य की यह परम्परा निर्मूल नहीं होने पाई। किसी-न-किसी अंश में उसकी प्रवृत्ति चलती जा रही है। सर्व श्री जयशंकर 'प्रसाद' का 'आंसू', निराला जी का 'तुलसीदास', पन्त जी की 'ग्रन्थि' 'नवीन' जी की विस्मृता उर्मिला, डाक्टर रामकुमार वर्मा की 'चित्तौड़ की चिता' ऐसे काव्य-ग्रन्थ हैं जो खंड-काव्यों की श्रेणी में निश्चित रूप से रखे जा सकते हैं। 'प्रसाद' जी का 'आंसू' कल्पना पर

आधारित है, किन्तु फिर भी छायावाद के इस युग में हम उसे छायावादी खंड-काव्य कह सकते हैं। पन्त जी की 'ग्रन्थि' की रचना एक सरस कहानी को लेकर की गई है। खंड-काव्यों की उत्कृष्टता की दृष्टि से आधुनिक काल में निराला जी का 'तुलसीदास' सर्वश्रेष्ठ है। 'नवीनजी' की विस्मृता-मिश्रण उर्मिला' में मिलन-बिछोह, सुख-दुःख का सुन्दर है। 'चित्तौड़-की चिता' श्री रामकुमार वर्मा का सरस, ओज-पूर्ण और वर्णनात्मक खंड-काव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य में खंड-काव्य की परम्परा कुछ अस्त-व्यस्त-सी ही रही है। हाँ, पिछले ६०० वर्ष के दीर्घ काल में जो थोड़े-बहुत खंड-काव्य लिखे गए हैं, उन्होंने इसकी परम्परा और प्रवृत्ति पर अवश्य प्रकाश डाला है।



: ६ :

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य में प्रबन्ध काव्य के समान कथा के सहारे रस की अभिव्यंजना नहीं होती। उसमें प्रत्येक पद्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है और बिना किसी पूर्वापर प्रसंग के

अर्थ को प्रगट कर देता है। अभिनव गुप्ताचार्य ने इसीलिए कहा है:—

'पूर्वापर निरपेक्षाति येन
रस चर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्।'

अर्थात् पूर्वापर प्रसंग और पद्यों का सहारा न होने पर भी जिसमें रस की अभिव्यक्ति हो जाय, उसे मुक्तक कहते हैं। अग्नि पुराण में भी कहा है:-

'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारः क्षमः सताम्।

अर्थात् मुक्तक रचना उसे कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने के लिए स्वतः समर्थ हो। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसे 'शतकों' 'महाशतकों' 'पिटारियों' में या प्रबन्ध-सूत्रों में गूंथकर भी अपनी प्रभा को अक्षुण्ण रखने वाला कहा है। शुक्ल जी ने 'यदि प्रबन्ध काव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है' कहकर इसकी महत्ता प्रतिपादित की है। और पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने तो मुक्तक रचना के लिए यह कहकर कि 'मुक्तक रचना एक मीठी रोटी के समान है जिसे जहाँ से चाहें काटें, वहीं से मीठी निकलेगी,' मुक्तक रचना की प्रशंसा में कुछ कमी नहीं रखी है।

निःसन्देह मुक्तक काव्य में कवि मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित करता है और उसी के द्वारा इसका अनुभव कराने की चेष्टा करता है। प्रबन्ध काव्य की भाँति उसे नीरस स्थलों को भी रखने का अवकाश नहीं होता, उसे तो अत्यन्त सरस और हृदय-ग्राही भावों की अभिव्यंजना करनी पड़ती है।

यदि वह ऐसा न करे तो मुक्तक की विशेषता ही नष्ट हो जाय।। जहाँ प्रबन्धकार जीवन के सम्पूर्ण और अखंड चित्र को उपस्थित करके अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है वहाँ

मुक्तक काव्यकार एक ही घटना या भावना के चित्रण से पाठकों के हृदय में आनन्द की सृष्टि कर देता है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रबन्ध काव्य की उपयोगिता मुक्तक से कम है। ऐसा नहीं है। दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। मुक्तक में कवि को थोड़ी-सी जगह में बड़ी-से-बड़ी घटना को रखना पड़ता है। इसलिए उसे बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। यदि कभी उसे शब्दों को तोड़ना-मरोड़ना पड़ता है, तो कभी न्यून पदत्व दोष का शिकार भी होना पड़ता है। तुलसीदास जी-जैसे महाकवी की 'रामायण'-जैसी रचना के दोहों के देखने से यह स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त मुक्तक काव्य का अर्थ समझने में भी कभी-कभी कठिनाई पड़ती है। बात यह होती है कि पूर्वापर प्रसंग तो उसमें होता नहीं। चुनी हुई स्वतन्त्र बातों की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए प्रबन्ध काव्य में जैसे सन्दर्भ से अर्थ निकाल लेते हैं, वैसे मुक्तक काव्य में नहीं निकाल सकते।

फिर भी मुक्तक काव्य में थोड़ी देर में लोगों को रसमग्न करने की क्षमता होती है। राज-दरबारों में मुक्तक ही का साम्राज्य रहता है; क्योंकि वहां प्रबन्ध काव्य के सुनने के लिए फ़ुरसत ही नहीं होती। नीति, सुभाषित आदि तो मुक्तक में ही शोभा पाते हैं।

मुक्तक काव्य की विशेषताओं पर विचार करने के बाद अब हम उसमें दोहे की उपयोगिता पर आते हैं। वास्तव में दोहा ही हमारे हिन्दी-काव्य के आरम्भ का स्रोत है; और तब से अब तक दोहे का निर्माण होता रहा है। संस्कृत में जिस प्रकार अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है वैसे ही हिन्दी में दोहे का। वास्तव में लोगों ने इसे सरल समझकर ही लिखना

आरम्भ किया होगा, लेकिन इसमें भी बड़ी कठिनाइयां हैं, इसके भी हंस, मयूर आदि २१ भेद किये गए हैं। गति और यति के साथ भाव का निर्वाह, वह भी सरसता बनाए रखकर इस ४८ मात्रा के छन्द में करना बड़ा भारी काम है। परन्तु यह भी सच है कि मुक्तक काव्य की मनोहारिता भी दोहे में ही सुरक्षित रह सकती है। इसमें परिश्रम तो अधिक करना पड़ता है, लेकिन भाव इतनी सजीवता से अभिव्यक्त होता है कि किसी भी छन्द में नहीं हो सकता। मुक्तक काव्य की उपयोगिता को बनाये रखने और उसे लोगों तक पहुँचाने के लिए ऐसे ही छन्द का प्रयोग वांछनीय है जो छोटा होने के साथ ही सब प्रकार के रसों का परिपाक भी कर सके। दोहे में यह गुण मौजूद है। यद्यपि दोहे से छोटे भी छन्द होते हैं, तथापि उनमें प्रवाह दोहे-जैसा नहीं होता, और प्रवाह रस-परिपाक का प्रथम साधन है। इसके अभाव में कविता का आधा आनन्द नष्ट हो जाता है।

सुप्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय एम. ए. के मत से मुक्तक काव्य पाठ्य और गेय दो प्रकार का है। किन्तु इन दोनों का निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। गेय में निजी भावातिरेक की मात्रा कुछ अधिक रहती है और पाठ्य में कवि बात को एक निरपेक्ष द्रष्टा या वकील के रूप में कहता है। पाठ्य-मुक्तक प्रायः सूक्तियों के रूप में आते हैं। ऐसे मुक्तक प्रायः नीति-विषयक, शृंगार-विषयक और वीरता-विषयक होते हैं। नीति के मुक्तकों में सबसे अधिक विषय की प्रधानता रहती है। गोस्वामी जी की दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदि के दोहे भक्ति और नीति के पाठ्य-मुक्तकों के अच्छे उदाहरण हैं।

गिरिधर की कुण्डलियां और दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियां भी इसी कोटि में आयंगी।

मुक्तक काव्य हमारे काव्य-साहित्य की एक अपरिहार्य शृंखला है। तुलसी, सूर, कबीर, मीरा आदि भक्त-कवियों तथा बिहारी, मतिराम, भूषण आदि रीतिकालीन कवियों ने भी अपने सबल भावों की अभिव्यक्ति करने में एक-मात्र इसका ही सहारा लिया है। इसमें जितना साहित्य लिखा गया है, उतना सम्भवतः हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल में नहीं लिखा गया है। रीतिकाल में तो इसका इतना अधिक परिष्कार होगया था कि दोहे की उत्कृष्टता का लोहा मानना पड़ता है। भारतेन्दु द्वारा नवीन युग का सूत्रपात होने पर अधिकांश समय तक मुक्तक काव्य ही लिखे जाते रहे और तब भी कवियों ने इसी के द्वारा जागृति-कालीन भावनाओं को जनता तक पहुँचाया। द्विवेदी जी ने मुक्तको साहित्य का आधार बनाने पर जोर दिया और मुक्तक छन्द स्वयं भी लिखे।

आज मुक्तक काव्य के साथ-साथ प्रबन्ध काव्य भी लिखे जा रहे हैं। मुक्तक काव्य के उत्कृष्टतम ग्रन्थ 'बिहारी-सतसई' के बाद बहुत मुक्तक-रचना हुई। जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' वियोगी हरि और सत्यनारायण कविरत्न के नाम मुक्तक-काव्यकारों में लिये जा सकते हैं। वियोगी हरि की 'वीर-सतसई' में भारत के वीरों की प्रशस्तियाँ हैं। इस पर उन्हें अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से १२००) का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

इन कवियों के अतिरिक्त सर्वश्री दुलारेलाल भार्गव व रामेश्वर 'करुण, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' वचनेश, आदि ने मुक्तक काव्य की उत्कृष्टतम रचनाएं की हैं। श्री दुलारेलाल

भार्गव ने 'दुलारे दोहावली' में अच्छे दोहे लिखे हैं। रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' किसानों, मजदूरों और गरीबों की करुण दशा का अच्छा चित्र खींचती है। श्री 'दिनेश' की 'श्याम-सतसई' कृष्ण-भक्ति के रस से ओत-प्रोत है। इस परम्परा को जीवित रखने वाले उक्त कवियों ने अपनी साधना से अब तक मुक्तक काव्य को आगे बढ़ाया है। उसमें नवीनता और मौलिकता का सामंजस्य किया है। मुक्तक काव्य अपनी विशेषता के कारण साहित्य में सदैव अभिनन्दनीय रहेगा।



: ७ :

गीति काव्य

हिन्दी-साहित्य के प्रारंभिक विकास में 'गीति-काव्य' का अत्यन्त प्रमुख स्थान है। उसकी समस्त प्राचीन और अर्वाचीन कविताएं प्रायः गेयात्मक ही मिलती हैं। इस प्रकार की गेयात्मक कविताओं को 'पद' के नाम से पुकारा जाता था। 'गीति-काव्य' का इतिहास वेदों की भांति प्राचीन है। वेदों की रचना भी तो संगीत के आधार पर ही हुई है। महाकवि कालिदास का 'मेघदूत' गीति-काव्य का सुन्दर उदाहरण है।

वीर-गाथा-काल में ऐसी रचनाएं कम हुईं। भक्ति-काल के द्वारा गीति-काव्य का प्रस्फुटन हुआ, जिसको कबीर, तुलसी

एवं मीरा आदि कवियों की वाणी का प्रसाद मिला। इन महाकवियों के पदों ने गीति-काव्य में नवीन चेतना, अनुभूति एवं माधुर्य का संचार किया। भावावेश के साथ-साथ संगीत तथा स्वर की समीचीन साधना का नाम ही 'गीति-काव्य' है। भक्ति काल से 'गीति-काव्य' को पूर्ण प्रश्रय मिला। उसके बाद रीति-काल में भी थोड़ी बहुत गीति-रचनाएं अवश्य हुईं; परन्तु तत्कालीन कवियों ने अपनी प्रतिभा, योग्यता एवं कला-चातुरी का प्रयोग इस दिशा में न करके लक्षण-काव्यों के लेखन में किया।

गीति-काव्य की रचना संगीत के उच्च आदर्श पर ही होती है। इसका प्रमाण हमें कबीर के रहस्यवादी सैद्धान्तिक पदों तथा तुलसी, सूर और मीराबाई की रचनाओं में मिलता है। उनके गीत आज संगीत-संसार में आदर की वस्तु हैं। सारांशतः जो गीति-काव्य का पुण्य कल्पतरु उक्त महाकवियों की वाणी का रस पाकर उगा था, वह आधुनिक काल में पुष्प-छाया-समन्वित एक विशाल काव्य-कानन का रूप धारण कर गया है।

इस काल का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है। भारतेन्दु बाबू की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने जिस सफलता से गद्य-ग्रन्थ लिखे, उसी तन्मयता से काव्य-रचना भी की। भारतेन्दु का जन्म उस संक्रान्ति-काल में हुआ था, जब कि वे उजड़े हुए भारत की गोद में पलकर दुःख-दरिद्रता, त्रास, शंका, संघर्ष का ताण्डव नृत्य देख रहे थे। हिन्दी-कविता को संकरे मार्ग से निकालकर समतल मैदान में निःशंक प्रवाहित करने का श्रेय भी भारतेन्दु बाबू को है। उन्होंने काव्य-साहित्य की ऊबड़-खाबड़ भूमि को पीट-पाट कर बहुत समतल कर दिया और साहित्य की स्वर-वाहिनी शिराओं को लचकीली

बनाकर कविता के कंठ से समय की आवाज़ निकाली। भारतेन्दु बाबू के द्वारा गीति-काव्य की रचना को उचित प्रोत्साहन नहीं मिला। गीति-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि बाह्य जगत् की अनुभूतियों को अपने अन्तर में लीन करके उनमें अपने सुख-दुःख का मार्मिक अभिव्यक्ति ही ध्वनित करता है। इस कसौटी पर भारतेन्दु की रचनाएं खरी नहीं उतरीं। उनकी रचनाओं में बाह्य जगत् की अभिव्यंजना अधिक मिलती है। भारतेन्दु-कालीन कवियों ने प्रायः ऐसे ही गीत लिखे।

भारतेन्दु के बाद 'प्रसाद' जी ने अपनी अनुपम कृति लहर, आंसू, झरना और कामायनी में गीति-काव्य को और भी विकसित किया और उसे एक नई चेतना, प्रेरणा और गति दी। वास्तव में आधुनिक काल की कविता में गीति-काव्य का विकास 'प्रसाद' जी की ही रचनाओं से हुआ। 'प्रसाद' जी प्रमुखतः अनुभूति के कवि थे। उनकी रचनाओं में सांसारिक बाह्य उपकरणों को अपेक्षा आन्तरिक मनोभावनाओ का चित्रण बहुत अधिक हुआ है। यही नहीं, 'प्रसाद' जी ने फुटकर गीत ही नहीं लिखे, प्रत्युत मानव-प्रवृत्तियों के विश्लेषक महाकाव्य 'कामायनी' में भी उन्होंने जो गीत दिये हैं, वे गीति-काव्य की अनुपम निधि हैं। उनकी गीति-प्रतिभा का मौलिक विकास उनके नाटकों में लिखे गए गीतों में देखने को मिलता है। प्रसाद जी ने जहाँ गीतों को साहित्यिक रूप दिया, वहां नाटकीय गीतों को भी समुन्नत किया। 'प्रसाद' के गीतों से संगीत की सोई हुई भावना पुनः जागी और उसने गीति-काव्य को परम्परागत पद-शैली और ब्रजभाषा की दल-दल से निकाल कर उन्मुक्त और विस्तृत मैदान में ला अधिष्ठित किया।

अपनी रचनाओं में रहस्यवाद के द्वारा 'प्रेम की पीर' जताने का सर्वप्रथम कार्य 'प्रसाद' जी ने ही किया और यह 'पीर' उनके इन गीतों में अधिक सफलता और सरसता लेकर व्यक्त हुई। उनके 'आंसू' में एक नहीं अनेक पद ऐसे हैं। कवि अनन्त की चाह में विरह-वेदना को असह्य जान अपनी मार्मिक व्यथा को यों प्रकट करता है:—

जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर,
वह आज बरसने आई॥

\+ \+ \+

शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल-से तुम आये॥

'लहर' में उन्होंने भावुक चित्रकार की भांति प्रकृति की रंग-बिरंगी वेश-भूषा में तन्मय होकर उसका कितना मार्मिक चित्रण किया है:—

जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया
ढाले अपनी कोमल-काया
नील-नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँति घनी रे।

उनके एक-एक शब्द में संगीत है, प्राण है और है अपने आराध्य पर मर-मिटने की प्रबल साध। अन्त में प्रकृति के

अतुल सौन्दर्य में निमग्न होकर अपना प्यार लुटाते हुए वे कहते हैं:—

काली आँखों का अंधकार
जब हो जाता है आर-पार
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार
यह चित्र रंग का ले बहार
जिसमें है केवल प्यार-प्यार।

जैसा कि हम ऊपर की पंक्तियों में लिख चुके हैं कि अपने मानव-प्रवृत्ति के विश्लेषक महाकाव्य 'कामायनी' में भी 'प्रसाद' जी ने गीत देकर गीति-काव्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। उनके निम्न गीत में कल्पना, भावना और अनुभूति का कितना विचित्र सम्मिश्रण हुआ है, यह देखिये:—

तुमुल कोलाहल कलह में,
मैं हृदय की बात रे मन।

विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल।
चेतना थक-सी रही तब,
मैं मलय की बात रे मन।

\+ + +

चिर विषाद-विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर घन की
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा,
कुसुम-विकसित प्रात रे मन!

जहां मरु-ज्वाला धधकती
चातकी कन को तरसती
उन्हीं जीवन-घाटियों को
मैं सरस बरसात रे मन !

'प्रसाद' जी के बाद सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा भगवतीचरण वर्मा, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, उदयशङ्करभट्ट, बच्चन, नरेन्द्र, नेपाली, अंचल, 'सुमन' तथा आरसी आदि कवियों ने भी अपनी कल्पना को जगत् का वास्तविक पृष्ठभूमि से हटाकर आन्तरिक भावनाओं में लीन करके सुन्दर रूप में व्यक्त किया है।

यद्यपि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने प्रायः प्रबन्ध-काव्य ही ही लिखे हैं, तथापि उनकी काव्य-कला का नवीन सन्देश प्रकृति और मानव के अन्तःकरण का सहज सामंजस्य उनके उन गीतों मे अवतरित हुआ है जो उन्होंने 'साकेत' और 'यशोधरा' में लिखे हैं। 'साकेत' के चित्र सौन्दर्य के प्रतीक हैं और 'यशोधरा' के गीतों में मानव के मानसिक उद्वेगों का अभिव्यक्तीकरण है। उनके ये सारे ही गीत प्रबन्ध-काव्य की माला में गुंथे हुए भी गीति-काव्य की अतुल निधि हैं, जिनकी अपनी सत्ता है, अपना सौन्दर्य है। 'साकेत' की उर्मिला और 'यशोधरा' की मर्म वेदना का चित्रण पढ़ते हुए पाठक के समक्ष सूरदास की गोपियां आ जाती हैं; किन्तु उनमें न उतनी व्यापकता है और न उतनी संवेदनशीलता। उनमें तो प्रिय-मिलन की पीड़ा ही स्पष्टतः दिखाई देती है। उर्मिला अपने प्रियतम की झांकी-भर पाने के लिए लालायित है। वह कहती है—

अब जो प्रियतम को पाऊँ ?
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो,

क्या कुछ देर लगाऊँ ?
मैं अपने को आप मिटाकर,
जाकर उनको लाऊँ ?
ऊषा-सी आई थी जग में,
सन्ध्या-सी क्या जाऊँ ?
श्रांत पवन-से वे आवें,
मैं सुरभि-समान समाऊँ ?

अपनी पीड़ा को असह्य समझ वसंत आने पर उसका उपालम्भ देना कितना मार्मिक है। उसमें सुकुमार हृदय की कितनी व्यथा एवं हूक छिपी हुई है-वह अनुभव-जन्य है—वह पीड़ा से आकुल होकर प्रार्थना करती है:—

मुझे फूल मत मारो ?
मैं अबला बाला वियोगिनी,
कुछ तो दया विचारो ?

उर्मिला के इन गीतों में उसके विरही मानस के क्षणिक उन्माद और शान्ति, विषाद और हर्ष का का सुन्दर आरोह-अवरोह हुआ है।

'यशोधरा' में सिद्धार्थ के बिना कुछ कहे चुप-चाप चले जाने पर 'यशोधरा' के स्त्री-हृदय से जो करुण-रागिनी निकली थी वह कितनी मार्मिक है:—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते ?
कह, तो क्या मुझको वे अपनी
पथ-बाधा ही पाते ?

अन्त में उसकी शुभकामना है:—

जायें सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुःख से

उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से
आज अधिक वे भाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ?

'निराला' जी हिन्दी-कविता में एक क्रांति-विधायक महाकवि के रूप में आये। उनकी इस क्रांति का मूल कारण हिन्दी-कविता को रूढ़ि-गत बन्धनों से सर्वथा मुक्त करके स्वच्छन्द, उन्मुक्त वातावरण की भूमि में लाना था।

वे मुख्यतः सौन्दर्यवादी कवि हैं, उनमें अश्लीलता नहीं, विलास की सौन्दर्य-वृत्ति है। हिन्दी के 'गीति-काव्य' में उनकी एक कला [illegible] एक अपना विशिष्ट स्थान है। उनकी 'परिमल' 'अनामिका' और 'गीति का' आदि पुस्तकों में संगीत का मादक प्रवाह दृष्टिगत होता है। चिरंतन की अनुभूति से अन्तःकरण को तृप्त करने की कितनी मधुर कल्पना है:—

देख दिव्य छवि लोचन हारे।

रूप अतनु, चन्द्र मुख श्रम रुचि,
पलक तरलतम, मृग-दृग तारे।

कवि में प्रियतम की याद कितनी उत्कट है, उसमें उसके दर्शनों के लिए कितनी अकुलाहट, छटपटाहट, और कसमसाहट है, देखिये—

प्राण-धन को स्मरण करते
नयन-झरते, नयन-झरते ?

प्रियतम के मिलन की प्रतीक्षा है, भक्त के हृदय में विरहाग्नि है। कवि निराशा से कह उठता है:—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?

स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु,
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?

'प्रसाद' और 'निराला' के गीतों में अधिक अन्तर नहीं है। सौन्दर्य-पिपासा, अज्ञात की गहरी अनुभूति और निराशा के बाद आशा का सन्देश दोनों में ही समान है।

पंत जी अपनी कविता में जीवन, जीवन में प्रकृति और प्रकृति में सत्य के उपासक हैं। सृष्टि के सौन्दर्य में उनकी आत्मा का चिरन्तन तारतम्य मिल गया है। वे फूल में, पत्ती में, किरण में, नक्षत्र में सब जगह उसी सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। 'ज्योत्स्ना' के गीत 'गीति-काव्य' का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें उनकी लेखनी मानो संगीतमय हो गई है:—

जीवन का श्रम-ताप हरो हे!
सुख-सुषमा के मधुर स्वप्न से,
सूने जग गृह-द्वार भरो हे

पंतजी के गीत मृदुता, सरसता एवं सुरुचिपूर्ण शृंगार से ओत-प्रोत हैं।

जिस मार्ग का निर्माण प्रसाद, पंत और निराला ने किया था उसको प्रशस्त करने में श्रीमती महादेवी वर्मा का पर्याप्त भाग है। उनके गीतों में विरह-शृंगार का जो मादक राग प्रस्फुटित हुआ है, उस राग में जो रुदन निहित है और उस रुदन में जो परम ज्योति की सुन्दर सुखद अनुभूति हमें होती है, वह निश्चय ही आदरणीय है। श्रीमती महादेवी वर्मा के गीत विरह की आग में अनजाने ही लिखे गए प्रतीत होते हैं—वे कहती हैं:—

जो तुम आ जाते एक बार!
हंस उठते पल में आर्द्र नयन

धुल जाता होठों से विषाद,
छा जाता जीवन में बसन्त
लुट जाता चिर-संचित विराग
आँख देतीं सर्वस्व वार !

उन्हें वेदना मधुर लगती है, किन्तु उनकी वेदना 'मीरा' के 'दरद' के समान व्यापक नहीं है, वह तो असीम, अनन्त और परम ज्योति के लिए होते हुए भी 'एकांगी' है, व्यक्तिगत है। अपने गीतों की रहस्यात्मकता के सम्बन्ध में एक स्थान पर वे स्वयं लिखती हैं:—

"गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक दुःख-सुख ध्वनित कर सके, तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।"

उनकी व्याकुल अभिव्यक्ति में कितनी करुणा है:—

मैं नीर-भरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली
मैं नीर भरी दुख की बदली।

+ + +

मेरे हँसते अधर नहीं जग—
की आंसू-लड़ियां देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत,
मुरझाई कलियां देखो॥

हिन्दी में जिन 'वर्मा-त्रय' का नाम रहस्यवादी कवियों में लिया जाता है, उनमें सुश्री महादेवी वर्मा के अतिरिक्त श्री

रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा हैं। श्री रामकुमार वर्मा के गीतों में रूप-सौन्दर्य की कल्पना पर्याप्त मात्रा में है। उनके अधिकांश गीतों में प्रकृति-वर्णन की ही प्रधानता है। भावों की अभिनयात्मक व्यंजना के कारण उनके गीत और भी मनोहर हो गए हैं। उनके—

'ये गजरे तारों वाले।'

और

'आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय।'

शीर्षक गीत हिन्दी गीति-काव्य के गौरव हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने जिस मस्ती और अल्हड़ता का प्रकटीकरण अपने गीतों में किया है, वह अद्भुत वस्तु है। उनके गीतों में उन्मत्त प्रेमी के भावों की अभिव्यक्ति है। संगीत का उनमें प्रवाह है।

सारांशतः हम यह कह सकते हैं कि उनके गीतों में राग-विराग सुख-दुःख, उत्थान-पतन और आशा-निराशा की भावनाएं स्पष्टतः प्रतिबिम्बित हैं। जीवन की नश्वरता के प्रति व्यंग्य करते हुए वे कहते हैं:—

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहां कल वहां चले!
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहां चले!
आये बनकर उल्लास अभी,
आंसू बनकर बह चले अभी
सब कहते ही रह गए अरे,
तुम कैसे आये, कहां चले!

इधर थोड़े-से समय में जिन कवियों ने अत्यन्त ख्याति प्राप्त की है; उनमें श्री बच्चन भी एक हैं । बच्चन ने अपने निराशावादी गीतों के द्वारा संसार की गहन अनुभूति अत्यन्त सरल भाषा में व्यक्त की है । उनकी 'मधुशाला' 'एकान्त-सङ्गीत' और 'निशा-निमन्त्रण' में इसी भावना के द्योतक गीत हैं । बच्चन में जीवन के यथार्थ और दार्शनिक तत्व को सरल ललित और हृदयग्राही शैली में प्रकट करने की अद्भुत क्षमता है । उनके इस गीत को देखें :—

सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है ।
उपहार हमें भी मिलता है,
शृंगार हमें भी मिलता है ।
आंसू की बूँद कपोलों पर,
शोणित की-सी बन जाती है ।
सन्ध्या सिन्दूर लुटाती है ।

प्रौढ़ कवियों में नरेन्द्र, अंचल, नेपाली और शिवमंगल-सिंह 'सुमन' अपनी अलग-अलग विशेषता रखते हैं । नरेन्द्र का—'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ।' नेपाली का 'दीपक जलता रहा रात-भर' अंचल का 'इतनी भी बात न मानोगी,' 'तुम मेरे साथ चली आओ' और सुमन का 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं' आदि ऐसे गीत हैं जिनका हिन्दी के गीति-साहित्य में अपना अपूर्व स्थान रहेगा । सभी में प्रकृति के सौंदर्य में बिखरे हुए मधुर एवं अलौकिक प्रेम की कोमल अभि-व्यंजना है ।

सर्वश्री आरसी, दिनकर, प्रेमी और उदयशंकर भट्ट सांस्कृतिकता के कट्टर पोषक और उपासक हैं । वे अपनी वाणी के द्वारा हमें नव-निर्माण की ओर अग्रसर करते हैं । प्रेमी और

दिनकर ने मुख्यतः आजकल जीर्ण-शीर्ण जड़ता का नाश करने के लिए जन-जागरण के ही गीत लिखे हैं। उदयशंकर भट्ट के 'युग-दीप' और 'अमृत और विष' में अनेक सुन्दर गीत हैं, किन्तु गीति-काव्य की दृष्टि से वे आदरणीय नहीं। प्रगतिवाद के चक्कर में उनकी कोमलता जाती रही है।

इधर जिन नये कवियों ने अपने गीतों द्वारा साहित्य-मन्दिर को आलोकित किया है उनमें सर्वश्री सुधीन्द्र, केसरी, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, सर्वदानन्द वर्मा, कमलेश, चिरंजीत, शेष तथा दीपक आदि प्रमुख हैं।

यदि इस लेख में स्त्री-कवयित्रियों का उल्लेख न किया गया तो गीति-काव्य की कड़ी अधूरी ही रह जायगी। सुश्री सुभद्रा-कुमारी चौहान, विद्यावती, 'कोकिल', तारा पांडे, सुमित्रा-कुमारी सिनहा, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', शान्ति देवी सिंहल रामेश्वरी शर्मा, शान्ति बी० ए० और शैल रस्तोगी आदि स्त्री-कवयित्रियों ने भी हिन्दी गीति-काव्य को अपने गीतों द्वारा निराशा, विषाद एवं वेदना की तीव्र परिणति दी है। हिन्दी गीति-काव्य का भविष्य अति उज्ज्वल कहा जा सकता है; किन्तु प्रगतिवाद की जहरीली बाढ़ से यदि इसकी रक्षा न की गई तो निकट भविष्य में इसकी सारी मधुरता, सरसता और प्रांजल भावना कठोरता और शब्द-जाल से आवृत हो जायगी।



: ८ :

रहस्यवाद

रहस्यवाद अन्तरात्मा की उस रहस्यमय भावना का नाम है जिससे वह अज्ञात शक्ति को पाना चाहता है और उससे ऐसा गाढ़ा नाता जोड़ना चाहता है जिससे वह और उसका प्रियतम कभी भिन्न न हों। ऐसी भावना प्राप्त होने पर जीवात्मा उसके प्रेम में इतना डूब जाता है कि उसे अपना ज्ञान नहीं रहता। उसे अपने और परमात्मा के बीच एक-रूपता ही अनुभव होती है। इस दिव्य एकीकरण में जीवात्मा को इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वह बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध तोड़ देता है और उस पर सदैव एक भावोन्माद-सा चढ़ा रहता है। यहाँ तक कि एक में दूसरे के गुण झलकने लगते हैं। जीवात्मा की अन्तः प्रवृत्ति होने के कारण इन्द्रियां ठीक विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। वह इन्द्रिय-विषयाश्रव बाह्य-प्रवृत्ति को छोड़कर उस भावना के लोक में पहुँचना चाहता है, जहां मैं-मेरा और तू-तेरा का ज्ञान ही नहीं रहता। यही रहस्यवाद की विशेषता है। उस दिव्य शक्ति-रूप परमात्मा को पाने तथा पाकर उसमें अपने को खो देने की इस अन्तः-प्रवृत्ति वाले व्यक्ति को रहस्यवादी कहते हैं।

रहस्यवाद की उत्पत्ति कैसे हुई? जब मनुष्य अपने चारों ओर फैले हुए इस विशाल संसार के प्राकृतिक दृश्यों को देखता है तो उसके हृदय में प्रश्न उठता है कि इस निखिल प्रपंच का मूल क्या है? उसका जीवात्मा इस बात का अनुभव करता है कि इस समस्त प्रपंच का कारण एक अज्ञात शक्ति है।

ऐसा अनुभव होते ही वह उस अज्ञात तथा अव्यक्त की खोज में लगता है। उसके हृदय में एक आध्यात्मिक भावना जागृत होती है, वह उस अज्ञात की आराधना करता है। इस आध्यात्मिक उद्भावना तथा उपासना का ही एक स्वरूप रहस्यवाद है।

मनुष्य जब से अपनी मानवीय विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगा, तब ही से रहस्यवाद का बीजारोपण हुआ। जब उसने यह समझा कि उसकी परिमित शक्तियों और विश्व की अपरिमित शक्तियों का संचालक एक ही सर्व शक्तिमान् परमात्मा है और उसकी प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है, उसी समय रहस्यवाद की भावना सिहर उठी। वास्तव में रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से असीम एवं अपार्थिव महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है। दूसरे शब्दों में "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में भी अन्तर नहीं रह जाता' रहस्यवाद की सत्ता काव्य में भी है और दर्शन में भी। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम स्रोत हृदय है। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उसका उद्गम मस्तिष्क है। ध्यान रहे, हम यहां पर काव्यगत रहस्यवाद का ही विवेचन करेंगे।

हम यह बता चुके हैं कि काव्यगत रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है। रहस्यवादी कवि एक दार्शनिक

की भांति तर्क-वितर्क की उलझन में नहीं उलझता, वह तो अपनी भावुकता के सहारे अपने प्रिय से मिलने के लिए व्याकुल हो उठता है। अपनी सूक्ष्म भावना को वह केवल मूर्त आधारों द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। अस्तु उसे रूपकों की शरण लेनी पड़ती है। हिन्दी के आदिम रहस्यवादी कवि कबीर की ये पंक्तियाँ देखिये:—

माली आवत देखकर, कलियां उठीं पुकार।
फूले-फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार॥

इन पंक्तियों में जीवन-मरण सम्बन्धी एक दर्शन के साथ कवि की भावुकता का भी समावेश है और इनके भावों को मूर्त आधारों की सहायता से प्रकट किया गया है।

रहस्यवाद में जीव इन्द्रिय-जगत् से बहुत ऊपर उठ जाता है। वह अपनी भावुकतामयी भावना से अनन्त और असीम प्रेम के आधार से एक हो जाना चाहता है। क्योंकि मैं, मेरा और मुझ का त्याग रहस्यवाद का एक अति आवश्यक अंग है। हृदय की प्रेममयी भावना साकार होकर अपनी ससीमता को उस असीमता में विलीन कर देना चाहती है। इसी में उसके हृदय की प्रेम-पूर्ति है, जैसे सागर से मिलकर एक जल-विन्दु की। यहां आत्मा अपनी संसारी सत्ता भूलकर गा उठता है:—

मैं सबनि औरनि मैं हूं सब,
मेरी विलगि-विलगि विलगाई हो।
ना हम बार, बूढ़ नाहीं हम,
ना हमरे चिलकाई हो॥

हम पहले लिख चुके हैं कि रहस्यवाद को अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। विषय के अनुसार हमारे प्रतीक भी होने चाहिए। क्योंकि पर्वत की

अभिव्यक्ति के लिए हम रेलगाड़ी का प्रतीक नहीं ले सकते। इसी प्रकार मधुर भाव की अभिव्यक्ति के लिए हम कटु तथा भावों के विपरीत प्रतीकों द्वारा काम नहीं ले सकते। प्रतीकों में मूल वस्तु की किसी स्थिति-विशेष का साम्य तो होना चाहिए। हमारे दैनिक जीवन में दाम्पत्य-प्रेम बहुत तीव्र और व्यापक है। हमारे सारे जीवन-क्षेत्र में इसका प्रभाव अनन्य है। वास्तव में इसी पार्थिव-प्रेम के विशद मनोधिकार द्वारा किसी अंश में, रहस्य भावमय उस अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों–संयोग और विप्रलंभ-की सफल अभिव्यक्ति हो सकती है। अन्यथा हमारे पास उस महा-मिलन की अभिलाषा एवं आकांक्षा की अभिव्यक्ति करने का कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि कबीर, जायसी, मीरा, दादू आदि सन्तों में इसकी बहुलता है। रागात्मक भावों की अभिव्यक्ति का यही उपयुक्त साधन है। इस पर भी उस अनन्त ज्योति के साक्षात्कार से प्राप्त सुख की उपमा साधकों ने गूंगे के खाये हुए गुड़ से दी है।

छायावाद की भांति रहस्यवाद की भी तीन स्थितियां हैं। पहली स्थिति तो वह है जब साधक अथवा-कवि उस अनन्त शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इस स्थिति में उसे भौतिकता से परे उठ जाना पड़ता है। उसे सांसारिक, सामाजिक तथा शरीरिक अवरोधों की चिन्ता नहीं रह जाती। वह संसार से उदासीन होकर परलोक से प्रीत करता है। आश्चर्य तथा विस्मय ही उसके आधार होते हैं। यह संस्कार-हीन सामीप्य की अवस्था है। उस समय जीवन तथा सत्य की विस्मृति-सी रहती है। सभी बातों का एक भूला-भूला-सा अनुभव होता है।

दूसरी अवस्था वह है जब आत्मा परमात्मा के सहवास-अनुभव के सुफल-स्वरूप उसे प्यार करने लगती है। इस प्रेम में हृदय की साधारण भावुक स्थिति नहीं रहती, यह प्रेम तो अगाध और अबाध होता है। इस प्रेम से लौकिक तथा अलौकिक जीवन में सहज ही एक ऐसा सामंजस्य हो जाता है कि उससे अन्तर्जगत् तथा बाह्य जगत् एक दूसरे से मिल जाते हैं। प्रेम की एकाग्रता के सिवा और किसी का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। फिर तो:—

गुरु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया
अब पढ़ने को कुछ नहिं बाकी

इस प्रेम की बाढ़ में डूबने-उतराने का सुख, बस गूंगे का गुड़ है। इस प्रेम के प्रवाह में अन्य सब भावनाएं लीन हो जाती हैं। यथा आकाश के घोर घन-गर्जन में घर की चक्की का स्वर समा जाता है।

तीसरी अवस्था रहस्यवाद की चरम साधना की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा तथा परमात्मा का भिन्नता जाती रहती है। आत्मा सहज ही में परमात्मा के गुणों का अपने में आरोपण कर लेता है। जैसे कस्तूरी-पात्र बिना कस्तूरी के भी सुगन्धित रहता है। रहस्यवाद की यह अवस्था व्यक्तिगत ही समझनी चाहिए। इसका एक कारण है। यह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि संसार के शब्दों में उसका स्पष्टीकरण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह कान्ति दिव्य है, अलौकिक है। हम उसे साधारण आँखों से नहीं देख सकते। वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता केवल उसकी सुगन्ध ही पाई जाती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशान्त वन में नहीं देख

सकते, प्रत्युत उसे कल-कल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं। यह पावन अनुभूति शब्दों की सीमा में नहीं बंध सकती। साधारण मनुष्य का हृदय भी इतना विशाल नहीं होता कि उसमें यह अलौकिक भाव-राशि समा सके। अस्तु, कभी-कभी रहस्यवादी मौन भी धारण कर जाता है। उसका उत्तर केवल यही रह जाता है:—

'नश्वर स्वर में कैसे गाऊं, आज अनश्वर गीत'

अथवा

शब्दों के सीमित साधन से
उर के आकुल आराधन से
मन के उद्वेलित भावों का
कैसे रूप बनाऊं ?

वास्तव में रहस्यवाद की अनुभूति का तत्व इतना व्यक्तिगत है कि वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। हमारे अलौकिक अनुभव तो अलौकिक भाषा में ही सफलता से व्यक्त हो सकते हैं। इसलिए रहस्यवादी कविता में ही अपने भावों को व्यक्त करते हैं। गद्य के अपरिष्कृत विषय को ऐसे रूप में परिवर्तित करने की निराश चेष्टा में, जिससे उनकी आवश्यकता की पूर्ति किसी रूप में हो सके, रहस्यवादी कविता की ओर जाते हैं; जो उनके अनुभव के कुछ संकेतों को हीन-से-हीन पर्याप्त रूप में प्रकाशित कर सके। अपनी कविता की मुग्ध ध्वनि से, उसके अप्रस्तुत रूप से अपरिमित व्यंग-शक्ति के विलक्षण गुण से, उसकी लचक से वे प्रयत्न करते हैं कि उसी अनन्त सत्य के कुछ संकेतों को प्रकाशित कर दें जो सदैव सब वस्तुओं में निहित हैं। ठीक उसी ध्वनि, उसी तेज और उनकी रचनाओं के ठीक उसी

उत्कृष्ट नाद से, उस प्रकाश से, कुछ किरणें फूट निकलती हैं, जो वास्तव में दिव्य हैं। उसके अतिरिक्त एक कारण और भी है। प्रेम, वेदना एवं करुणा के भावोन्माद प्रायः स्वभावतः ही कविता में मुखरित होते रहते हैं। क्योंकि भावों की उल्लासमयी अतिशयता गद्य की अपेक्षा पद्य के अधिक समीप पड़ती है। गद्य शुष्क मस्तिष्क की तथा पद्य भावुक एवं संवेदनशील हृदय की भाषा है। इसलिए संसार की रहस्यमयी अभिव्यक्तियां अधिकतर पद्य में ही पाई जाती हैं।

संगीत तथा काव्य की, लय एवं सौंदर्य की आकुल अनुभूतियाँ हमें विस्मय, सम्भ्रम तथा आनन्द से विभोर कर देती हैं। उन अनुभूतियों की उद्भावना क्यों होती है? यह कहना कठिन है। प्राकृतिक तथा मानवीय सौंदर्य से मनुष्य अनेक बार इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे आत्म-विस्मृति-सी हो जाती है। पर्वत, सागर और चन्द्र को देखकर मन में एक आनन्द का उद्वेलन होने लगता है, किन्तु यथार्थतः विचार करने पर यह क्रमशः पाषाण-समूह, जल-राशि तथा ग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गुलाब का फूल वर्णयुक्त पत्रों की एक परिणति-मात्र है, किन्तु उसमें मनोमुग्धता का समावेश है। सौंदर्य-विहीन कृष्ण-वर्ण कोयल के स्वर में मधुरता का कितना अनुभव छिपा रहता है। इन सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। सौंदर्य का रहस्य अभी तक स्पष्टतया उद्घाटित नहीं हुआ। सौन्दर्य का संदेश तो हम पाते हैं, किन्तु भेजने वाले का पता तथा स्वरूप अब भी हमारी खोज का विषय है। यहीं हमें अपनी आत्मा की उस अनुभूति का परिचय मिलता है जिसे रहस्यवाद कहा जाता है। इस अनुभूति का प्रथम चरण सत्य का अनुसन्धान करना है और द्वितीय

चरण आत्मा स्वयं सत्य है की धारणा पर विश्वास करना है। इन्हीं दोनों चरणों के आधार पर रहस्यवादियों की आध्यात्मिक जीवन-यात्रा निर्भर है। इसी से कहा जाता है कि 'देवो भूत्वा देवमर्चयेत्'। इस विश्लेषण से हम सहज ही में यह समझ सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा का विषय है, ऐसे काव्य में आत्मा की आकुलता का ही आभास मिलता है। इसका सम्बन्ध सीधा वस्तु-विधान से रहता है। अभिव्यजन-विधान से नहीं। यथाः—

पानी ही तैं हिम भया, हिम भी गया विलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥

इस युक्ति में 'अहम्' और 'परम' की अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। 'हिम' और 'पानी' की तत्वतः एकरूपता से उसका आभास कराया गया है। यहां पहुँचकर अहम परम् में लीन हो जाता है। यह भाव कबीर की इस रहस्यमयी उक्ति तक पहुँच जाता है किः—

'तू' 'तू'कहता 'तू' भया, मुझ में रही न मैं।

यही साधक और साध्य का एकीकरण है। इसी प्रकार—

हां सखि आओ बांह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण ?
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ?

यह साधक की उत्सुकता-भरी तड़पन है। विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने का प्रयास कवि की आत्मा ने किया है। इसका उदाहरण नीचे की पंक्तियों में बहुत सुन्दर मिलता हैः—

फिर विकल हैं प्राण मेरे
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी
देख लूं उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पंथ से युग-
कल्प उसका छोर क्या है?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे श्वास घेरे?

इसी प्रकार 'कबीर' ने भी गाया था:—

जा मरने से जग डरे, मोहि परम आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं पूरन परमानन्द॥

जब हम रहस्यवाद की प्राचीनता पर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि सभ्य जगत् की सभी जातियों में कुछ ऐसे साधक थे जो अलौकिक रहस्य की खोज में रहते थे। उनकी चिंतन-प्रणाली जन-साधारण से भिन्न होती है। प्रत्यक्ष जगत् के बोध तथा प्रमाण से इस आध्यात्मिक जगत् की तुलना करना व्यर्थ है। इस रहस्यमयता को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम साधकों ने सोचे हैं। इस चिंतन-प्रणाली के अनुसार साधकों की चार कोटियाँ निर्धारित की गई हैं:—

(१) प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवादी
(२) दार्शनिक रहस्यवादी
(३) धार्मिक तथा उपासक रहस्यवादी
(४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी

इस प्रकार अपनी-अपनी भावनाओं के अनुकूल उपायों से मनुष्य उस परम सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। यह उसकी आत्मा का गुण है, विषय तथा पथ का नहीं। आनन्दमय आत्मा की प्राप्ति तर्कों से नहीं होती। वहाँ तो—

'आज जीवन में किसी की चाह की तो खोज अविचल' याद रखना पड़ता है। आगे अवश्य ही आलोक दिखाई देगा। इन कोटियों के अनुसार प्रथम कोटि में प्रचीन कवियों में कबीर और जायसी का नाम उल्लेखनीय है। कबीर का यह पद तो प्रेम और सौन्दय का प्रत्यक्ष रूप है:—

नयनन की कर कोठरी,
पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारि के,
पिय को लीन्ह बिठाय॥

आज का रहस्यवादी कवि अपने को किसी भी एक कोटि में नहीं बाँध सकता। क्योंकि उसका तो निश्चय है कि:—

मैं सजग चिर साधना ले।
सजग प्रहरी-से निरन्तर,
जागते अलि रोम निर्भर
निमिप के बुद-बुद मिटाकर
एक रस है समय सागर
हो गई आराधनामय, विरह की आराधना ले!

दूसरी कोटि में अंग्रेजी कवि 'ब्लेक' तथा 'ब्राउनिंग' का नाम लिया जा सकता है। 'तुलसी' तथा 'सूर' के भी कुछ पद इसी कोटि के हैं। आधुनिक कवियों में श्री निराला जी का भी नाम इसी कोटि में रखा जा सकता है। प्रसाद तथा माखनलाल चतुर्वेदी की भी कुछ अभिव्यक्तियां इसी कोटि की हैं। यथा:—

चहकते नयनों में जो प्राण।
कौन किस दुःख-जीवन के गान?

+ + +

द्रुत मलमल-झलमल लहरों पर,
वीणा के तारों के-से स्वर-
क्या मन के चल-दल पत्रों पर--
अविनश्वर आदान ?

तीसरी कोटि में 'मीरा' तथा निर्गुणवादी कवि आते हैं। इसका आधार एकान्त तथा उपासना है। यथा:—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा ना कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।
अब तो बात फैल गई, जानत सब कोई।
'मीरा' प्रभु लगन लागी, होनी होय सो होई॥

तुलसीदास का—'सिया राममय सब जग जानी' वाला पद भी इसी कोटि का है। चौथी श्रेणी में अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ तथा हिन्दी के कोमल कवि श्री पन्त जी का नाम रखा जा सकता है। यथा:—

मिले तुम राकापति में आज,
पहन मेरे दृग-जल का हार
बना हूँ मैं चकोर इस बार
बहाता हूँ अविरल जल-धार
नहीं फिर भी तो आती लाज।

इन काव्यों के अतिरिक्त आज हमें ऐसे भी रहस्यवादी, काव्यों का पता मिलता है जो रहस्यवाद की अभिव्यक्तियों को अपनी साधना के स्वरूप अपने में संजोये हैं। जिनका काम केवल रहस्यवादी काव्य लिखना ही नहीं, वरन् इन भावनाओं में रहना भी है। ऐसे कवियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का नाम स्मरणीय है। उनके काव्य में रहस्य-भावना का छुट-पुट प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ, प्रत्युत उनकी कृतियों में इस भावना

का सुन्दर क्रमिक विकास सन्निहित है। उनके सम्पूर्ण काव्य में उनके अन्तःकरण की स्फूर्ति और उनके आत्मा के आनन्द की तन्मयता है। यथाः—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी ?
किसको त्यागूं, किसको मांगूं,
है एक मुझे मधुमय, विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
कांटे कलियां, प्रस्तर रसमय !
पा लूँ जग का अभिशाप कहां,
प्रति रोमों में पुलकें लहरीं।

यह रहस्यवाद का सुन्दर विश्लेषण है। वास्तव में रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य की एक ऐसी स्थायी निधि है, जिसका अस्तित्व कभी नहीं मिट सकता। क्योंकि आत्मा की अनन्त से मिलने की चाह सदा बनी रहेगी और यही भावना रहस्यवाद के रूप में सदा काव्य को तरङ्गित करती रहेगी।

☆

: ६ :

छायावाद

छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो उस रहस्यमय अर्थ में जहां कवि अपनी अनेक चित्रमयी भाषा में उस अज्ञात प्रीतम के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करता है। कवि अनेक रूपकों द्वारा अपने प्रियतम का चित्र खींचता है। छायावाद का दूसरा अर्थ है प्रस्तुत में अप्रस्तुत का कथन। इस अर्थ में कवि प्रकृति को सजीव मानकर उसकी प्रत्येक वर्ण्य वस्तु में चेतना-जन्य क्रियाएं देखता है। बिजली प्रेम-रूपी वृक्ष में पुष्प-सी ज्ञात पड़ती है; चलते हुए शरत्कालीन मेघ पक्षियों से उड़ते दीखते हैं; रात्रि काला अवगुण्ठन किये अभिसारिका-सी मालूम पड़ती है और चमकते हुए तारे हंसते-से ज्ञात होते हैं। इनमें भी कवि कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष का भावात्मक चित्र ही खींचता है। यथा नदी-तीर पर बैठा हुआ कवि उसकी लहरों में लास्य देखकर उसमें चेतना का आरोप करता हुआ नर्तकी के नृत्य का वर्णन करता है।

छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भांति विश्व के कण-कण में अपने सर्व व्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य छायावाद ने ही किया है। छायावादी कवि मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-कण का एक ही कारण, एक ही मूल्य समझता है। छायावाद में रोमान्टिसिज्म की भांति कलाकार [illegible] कला से अधिक महत्त्व माना गया है। क्योंकि कला में कलाकार के

भावात्मक व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करना होता है। प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्तियों की शरण ली है। छायावाद की तीन अवस्था हैं। प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है। दूसरी अवस्था में मानसिक अशान्ति व आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो-सा जाता है। तीसरी अवस्था में उसका उद्देश्य पूरा हो जाता है। उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह सन्तोष से अपने-आप में अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणति है। यहां पहुंचकर छायावादी उसी ध्येय को प्राप्त कर लेता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी। इसलिए हम कह सकते हैं कि जिस समय प्रथम मानव ने कल-कल करती हुई निर्झरिणी में अपने ही प्राणों-जैसी प्राण-छाया देखी, उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। जिस समय क्रौंच पक्षी की मर्म वेदना का आघात आदि-कवि वाल्मीकि को बेसुध कर गया, जिस समय उनके हृदय की मम-वदना तथा करुणा प्रथम श्लोक के रूप में मुखरित हो उठी थी उसी समय छायावाद की आत्मा सिहर उठी थी। वास्तव में करुणा हमारे विकास का साधन है, शायद यही कारण है कि प्राचीन युग इतना करुण नहीं था।

बात यह है कि मानवेतर आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों की संकुचित सीमा में नहीं हो सकता। उसकी सर्व-व्याप्त छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करके, उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का आरोप करके यदि उस पर्ण सत्ता

के प्रकाशन का प्रयत्न किया जाय तो वही छायावाद होगा। ईश्वर की सत्ता संसार की वस्तु-मात्र में प्रतिबिम्बित है। इसी आधार पर हम उसके अचिंतनीय तथा अव्यक्त स्वरूप का आराधन कर सकते हैं। आंखों के सामने विस्तृत आकाश शून्य के अतिरिक्त क्या है? किन्तु हम उसके नीले रङ्ग तथा उसकी छाया का आभास जल में पाते हैं, यही उसकी अरूप सत्ता है। उस अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज करना मानव-प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है। इस चेष्टा की काव्यमय भावना ही छायावाद है। उदाहरण के लिए प्रकृति में प्रेयसी का आरोप सदा से होता आया है, मानव और मानवेतर जीवन में तादात्म्य भावना की कल्पना भी बहुत पुरानी है। वही आज भी हम अपने काव्य में पाते हैं। यह आरोप भी दो प्रकार का होता है। प्रकृति के किसी अंश को एक पार्थिव व्यक्तित्व देना तथा प्रकृति के किसी अंश में एक व्यापक व्यक्तित्व का आरोप करना इस कविता की प्रमुख विशेषता प्रथम श्रेणी की कविता को हम छाया- वादी कविता नहीं कह सकते, क्योंकि वह वस्तुवाद की सीमा में आबद्ध होगी। उदाहरण के लिए—कलिका प्रति के कवि कहता है:—

री सजनि वन-राजि की शृंगार!

मुग्ध मग्नों के हृदय के मुंदे तत्व अगाध,
चपल अलि की परम संचित गूंजने की साध,
नाग की नागी हवा की मानिनी खिलवाड़,
पहन कर नग मुकुट उठला रहा है झाड़!

खोल मन निज पंखुड़ियों का द्वार,
री सजनि, वन-राजि की शृंगार!

इन पंक्तियों में कलिका को सजनि का व्यक्तित्व दिया गया है, किन्तु वह स्थूल है, सीमित तथा मानवीय है। इसलिए यह वस्तुवाद की कविता है। वस्तुवाद की स्थूलता छायावाद में सूक्ष्म हो जाती है, वस्तु-भेद की कृत्रिमता अभेद की प्राकृतिकता में परिणत हो जाती है और व्यापक व्यंजन सूक्ष्म कल्पना तथा आध्यात्मिक ध्वनि के प्राधान्य के बल से छायावाद वस्तुवाद की सीमा पार कर जाता है। छायावादी कविता का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए:—

चुभते ही तेरा अरुण बान !
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर-से सजल गान !

नव कुन्द-कुसुम-से मेघ-पुंज,
बन गए इन्द्र-धनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक ताल;
हिम-बिन्दु नचातीं तरल प्राण;
धो स्वर्ण-प्रात में तिमिर-गात,
दुहराते अलि नित मूक तान !
चुभते ही तेरा अरुण बान !

सौरभ का फैला केश-जाल,
करतीं समीर-परियां विहार;
गीली केसर, मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार:
मर्मर का मधु संगीत छेड़,
देते हैं, हिल पल्लव अजान !

फैला अपने मृदु स्वप्न-पंख,
उड़ गई नींद निशि क्षितिज पार,
अधखुले दृगों के कंज-कोष;
पर छाया विस्मृति का खुमार,
रंग रहा हृदय ले अश्रु-हास,
यह चतुर चितेरा सुधि-विहान !

इस कविता में रश्मि, निर्झर, हिम-बिन्दु, समीर, पल्लव, नींद, कंज तथा विहान को एक चेतन व्यक्तित्व दिया गया है, अस्तु; यह प्रकृति के आंशिक रूपों में सूक्ष्म चेतन व्यक्तित्व की स्थापना छायावाद के प्राण बनकर प्रांजल-सी हो उठी है।

वास्तव में छायावाद कोई हमारे लिए कोई नई चीज़ नहीं है। छायावाद की भावना में भी वही मूल तत्व हैं जो वर्तमान काव्य का सृजन करते हैं। वे मूल तत्व हैं—सौन्दर्य, विस्मय, अद्भुत, करुणा तथा प्रकृति-प्रेम। अब हमें इन्हीं तत्वों पर कुछ विचार करना है।

छायावादी कवि हमारे आस-पास के संसार की इतिवृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करता है, क्योंकि इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, बाह्य सौन्दर्य से है—आन्तरिक तथा सूक्ष्म से नहीं। बाह्य सौन्दर्य वाला कवि एक फूल के अंग-प्रत्यंग का ही वर्णन करेगा, किन्तु छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनायगा, जिससे वह एक स्वाभाविक आत्मीयता का अनुभव करता है। छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयास करता है। संसार का कण-कण इसी भावना के मधुर कोमल पाश में बँधा है, इसी रागिनी की स्वर-लहरी कण-कण में व्याप्त है। आज का कवि

विज्ञान की बाह्य-सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव-समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य-साधना पर आरूढ़ करना पड़ता है। वह अपने ही अन्तरात्मा को प्रकृति के नाना रूप-रंगों में खोजकर निकाल लेता है। इस आन्तरिक सौन्दर्य का एक छोटा-सा उदाहरण देखिए:—

> जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है
> नव वसंत जिसका शृंगार,
> तारे हार, किरीट सूर्य-शशि
> मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार,
> मलयानिल मुख-वास जलधि मन
> लीला लहरों का संसार।

उस स्वरूप को तू भी अपनी मृदुल बाहों में लिपटा ले!

सौन्दर्य के पश्चात् हमें प्रेम-भावना के तत्व पर विचार करना है। सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एवं संकोच होगा, उसी प्रकार प्रेम की भिन्न-भिन्न कोटियां होंगी। छायावाद की सौन्दर्य-भावना के साथ उसका प्रेम भी बहुत स्थूल नहीं। प्रेम जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। मनुष्य-मात्र की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। किन्तु व्यापक सौन्दर्य की भावना ही छायावाद की प्रेम-भावना का आधार है। वह भावना ऐसी होनी चाहिए:—

> जो कुछ कालिमा भरी है
> इस रक्त-मांस में मेरे,
> यह जलन जला देगी तब,
> मैं योग्य बनूंगा तेरे।

प्रेम की साधना बड़ी पवित्र होनी चाहिए। प्रेम के शान्त धवल प्रदेश पर उद्दाम वासना का आकर्षण, अशान्ति तथा आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से व्यथित हो जाता है। वह एक करुण क्रन्दन के स्वर में कहता है:—

प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुषमा का सरल विनोद।
विश्व-गरिमा का जो था सार,
हुआ वह लघिमा का व्यापार।

इन पंक्तियों में अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम की पवित्रता का निदर्शन है। जो एक छायावादी कवि की भावना का मूल-तत्व है। अब हमें वेदना की भावना तथा करुणा पर विचार करना है। वास्तव में वेदना विश्व जीवन की मूल रागिनी है। कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी अनादि काल से वेदना-सिंचित रही है। क्रौंच पक्षी के अंतस्तल के करुण-निःश्वास से वेदना-विह्वल होकर आदिकवि वाल्मीकि ने कविता-कामिनी को संसार में अवतरित किया था। सृष्टि-क्रम में, जन्म-मरण, हास-रुदन, विरह-मिलन से घिरा कवि-हृदय जब अपनी मानवीय विवशताओं की ओर दृष्टिपात करता है, तब उसके सामने विषाद का एक अन्धकार छा जाता है। असफल अभिलाषाएं करुण-क्रन्दन कर उठती हैं। ऐसे समय में कवि को ईश्वरीय अनुकम्पा एवं सत्ता पर भी सन्देह होने लगता है। यही उसकी वेदना तथा करुणा के कारण हैं। छायावाद में वेदना का प्रवाह स्वाभाविक मनोभावों को लेकर होता है। अभि-व्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामंजस्यता, कामनाओं की विकलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति

सम्वेदन शीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता ही इसका आधार है:—

"नश्वर स्वर से कैसे गाऊं आज अनश्वर गीत।"
"मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू-लड़ियां देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत, मुरझाई कलियां देखो।"
"मुझको मिला न कोई ऐसा जो कर लेता प्यार।"

ऊपर की पंक्तियों में वेदना भिन्न-भिन्न कारणों को लेकर प्रवाहित हुई है। हमारा वर्तमान काव्य वेदना का एक हृदय-स्पर्शी सङ्गीत लेकर आया, जिसने हमारी आस्था की रक्षा की है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि-हृदय तप्त उसांसें निकालता है—यद्यपि काव्य में व्यक्तिगत अनुरक्ति तथा पार्थिव अतृप्ति की वेदना का कोई महत्व नहीं, किन्तु यदि वह व्यापक हो तो उसका प्रभाव बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है, ऐसी करुण वेदना जीवन की तत्वमयी आवश्यक वास्तविकता है, किन्तु वह इस रूप में सामने आती है:—

"एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।"

दुःख की उपयोगिता कवि के भावना-क्षेत्र को इतना परि-पूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख का पक्ष उनकी इन पंक्तियों में सहज ही में सबल पड़ जाता है:—

"तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा!"

उनकी इस पीड़ा में एक माधुर्य है, एक नवजीवन फूँकने की शक्ति है। पन्तजी की इन पंक्तियों को देखिये:—

"दुःख इस मानव आत्मा का रे, नित का मधुमय भोजन;
दुख के तम को खा-खाकर, भरती प्रकाश से वह मन।

अपनी डाली के कांटे हैं, नहीं बेधते अपना तन;
सोने से उज्ज्वल बनने में, तपता नित प्राणों का धन।
आँसू की आंखों से मिल, भर ही आते हैं लोचन।

+ + +

अब हमें छायावाद में प्रकृति-भावना पर विचार करना है। यदि देखा जाय तो प्रकृति-प्रेम तो छायावाद की जान है। छायावादी कवियों ने प्रकृति की सुषमामयी गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही सुन्दर एवं मार्मिक चित्रण किया है। जिस प्रकार अंग्रेजी रोमान्टिक कविता ने प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेश करके उसमें अमर सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के चित्र अंकित किये हैं, उसी प्रकार छायावादी कवि ने भी प्रकृति-प्रिय गान गाये हैं:—

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि,
तुम्हारे मीठे-मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान॥

फिर तो वह प्रकृति का इतना दुलारा और परिचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कल-रव करता है और उसी में मिल-सा जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है जैसे इन पक्षियों को भी उसी ने गाना सिखाया हो:—

विजन-वन में तुमने सुकुमारि,
कहांपाया यह मेरा गान।
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि,
सजग मेरा सोने-सा गान॥

पंत जी ने 'बादल' 'चांदनी' 'छाया, 'एकतारा' कविताओं में प्रकृति के बहुत ही सुन्दर एवं सजीव चित्र दिये हैं। निराला

जी की 'जुही की कली,' 'शेफालिका' कविताओं में प्रकृति-चित्रण एवं प्रकृति-पर्यवेक्षण की जिस अद्वितीय प्रतिभा के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। निरालाजी की 'सन्ध्या सुन्दरी' तो इतनी सजीव हो उठी है कि कविता पढ़ते ही उसके स्पन्दन का आभास होने लगता है:—

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे, धीरे, धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु जरा गम्भीर नहीं है उनमें हास-विलास।"

भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद ने प्राचीन परिपाटी के प्रति क्रान्ति और विद्रोह की ज्वाला भी फूंकी है। प्रबन्ध-काव्य की परम्परा एक तरह से डूब-सी गई है, उसके स्थान में गीति-काव्य का निर्माण हुआ है। 'प्रसाद' 'निराला' 'पन्त' ने सर्व प्रथम बंगला-साहित्य तथा अंग्रेजी-साहित्य के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में उसका श्री गणेश किया। गीति-काव्य का नेतृत्व महादेवी जी के हाथ में रहा। उसके गीतों की मधुरता एवं रमणीयता अन्यत्र नहीं है। कालिदास तथा तुलसी के शब्द-चित्र अतीत की गोद में सो गए थे; किन्तु इन कवियों ने उनका पुनर्निर्माण किया। पुराने छन्दों को तिलांजलि देकर नये-नये छन्दों का निर्माण किया गया। नवीन छन्दों के साथ-साथ मुक्तक छन्द भी कविता में गूंजने लगे। इसका सूत्रपात निराला जी ने किया। कल्पना-शक्ति अधिक गतिशील

तथा सरस हो गई, साथ ही कविता-कला संगीत-कला के साथ एकाकार होकर स्वयं मधुरता की मूर्ति बन गई। वास्तव में छायावाद ने हमारे साहित्य में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है।

अब हमें छायावाद के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी है। छायावाद कोई नवीन वस्तु नहीं है, हमारे प्राचीन काव्य में भी छायावाद की झलक मिलती है। वेदों के द्वारा दिया गया ऊषा तथा संध्या का जो वर्णन सूक्ष्म एवं व्यापक है, उसे हम छायावाद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। सन् १९०९ ई० से छायावाद का विकास आरम्भ हुआ, जब 'प्रसाद' के 'कानन-कुसुम' और मासिक पत्र 'इन्दु' ने खड़ी बोली की कविता में एक नवीन धारा का सूत्रपात किया। इसी धारा को छायावाद का नाम दिया गया। १९२५ तक 'पल्लव' और 'आँसू' के प्रकाशन के साथ यह धारा स्थायित्व प्राप्त कर चुकी थी। साधारण जनता में यह नाम सामयिक कविता के लिए १९३७ तक चलता रहा। 'प्रगतिवादी' काव्य का जन्म इसके बाद की कथा है। वास्तव में जिस किसी ने इस नाम का सूत्रपात किया, उसका उद्देश्य सामयिक काव्य की हंसी उड़ाना था। उसे एक नई श्रेणी की कविता से परिचय प्राप्त हुआ, जिसमें उसने बंगाल के श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' और अंग्रेजी रोमान्टिक कवियों की रहस्यवादी कही जाने वाली कविताओं की छाया देखी। इसलिए व्यंग के तौर पर उस कविता को छायावाद का नाम दिया गया। धीरे-धीरे छायावाद ने बंगाली भावुकता और रहस्यवादी आध्यात्मिकता के सिवा अनेक व्यंगों का विकास किया। परन्तु नाम वही (छायावाद) चलता रहा, अन्त में महादेवी वर्मा

आदि की उच्चतम कविताओं ने छायावाद को विकास की चरम सीमा पर पहुंचा दिया।

किन्तु समय की गति के साथ अब छायावाद की महत्ता भी घटती जा रही है। छायावादी कहे जाने वाले कवि नये-नये दलों में भर्ती हो रहे हैं। छायावादी काव्य के विश्लेषण पर भी लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएं बन हो रही है। प० रामचन्द्र शुक्ल इसे "काव्य-वृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण" कहते हैं या अभिव्यंजना की एक शैली मानते हैं। जिसकी विशेषता उसकी लाक्षणिकता है। पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं—"इसमें एक नूतन सांस्कृतिक भावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना भी। पूववर्ती काव्य से इसमें स्पष्टतः अधिक अस्तित्व और गहराई है।" प्रसादजी ने छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्य-पूर्ण अभिव्यंजना माना है, जो साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष की अनुभूति सरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम' में समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।



प्रगतिवाद

साहित्य में किसी भी वाद का उत्पन्न होना उस समय की परिस्थितियों एवं घटनाओं पर निर्भर है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि समय के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता आया है। हिन्दी-साहित्य में वास्तविक परिवर्तन अथवा क्रान्ति भारतेन्दु-युग से ही आरम्भ हो चुकी थी। इनसे पूर्व के संत कवियों की सामाजिकता तथा रीति-काल के दरबारी कवियों की शृंगारिकता अपने समय की प्रतिध्वनि थी। उसके पश्चात् (१८५०-८५) जब देश के राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ, तो हमारे साहित्यकारों ने भी करवट बदला। उन्होंने भी जनता में राष्ट्रीय-चेतना एवं जागरण का संदेश फूंकना आरम्भ किया। इस साहित्यिक क्रान्ति के अग्रदूत थे भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र। राष्ट्र-वीरों का गुण-गान, राष्ट्र-पतन के लिए दुःख-प्रकाश, समाज की अवनति के प्रति क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता और हिन्दू-हितैषिता (जातीयता) ये भारतेन्दु-काल के प्रमुख विषय हैं:—

> कहां गये विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
> चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ नासे करि कै थिर ॥
> कहाँ क्षत्र सब मरे जरे सब गए कितैं गिर।
> कहाँ राज को तौन साज जेहि जानत चिर ॥
> जागो अब तो खल बल-दलन रक्षहु अपनो आर्य मग !
>
> (भारतेन्दु)

इस प्रकार एक ओर तो अतीत के शौर्य की याद दिलाकर जनता में जोश एवं वीरत्व की भावना फैलाई जाती थी, दूसरी ओर उसकी कुरीतियों पर खेद प्रकट करके उन्हें दूर करने का भी प्रयत्न किया जाता था:—

स्त्री गण को शिक्षा देवैं, कर पतिव्रता यश लेवैं।
झूठी यह गुलाल की लाली धोवत ही मिट जाय,
बाल विवाह की रीति मिटाओ रहे लाली मुँह छाय।
विधवा विलपैं, नित धेनु कटैं, कोउ लागत गोहार नहीं॥

वह समय भारतवर्ष के लिए अत्यन्त संकटमय था। देश ने हथियार डाल दिये थे। एक नई संस्कृति और सभ्यता से उसका संघर्ष चल रहा था। देश में अंग्रेजी-शिक्षा-प्राप्त जन-समुदाय धीरे-धीरे खड़ा हो गया था। भारतीय धर्म-कर्म और संस्कृति-सभ्यता को भूलकर यह नया शिक्षित वर्ग साहब बना जा रहा था। ऐसे समय में भारतीयता के लुप्त हो जाने का डर था। हमारे कवियों ने जहां समाज को उद्धार करने के लिए ललकारा, वहां हिन्दुओं की मानसिक दासता पर क्षोभ भी प्रकट किया:—

अंग्रेजी हम पढ़ो तऊ अंग्रेज न बनिहैं,
पहरि कोट पतलून चुरुट के गर्व न तनिहैं।
भारत ही में जन्म लियो भारत ही रहि हैं,
भारत ही के धर्म कर्म पर विश्वा गहि हैं।

कांग्रेस की स्थापना हो जाने से (१८८५) देश में आशा का संचार हुआ और कवियों ने नव जागरण की भैरवी फूंकनी प्रारम्भ की:—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का,
समझन अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका॥

उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई ।
खग बन्दे मातरम मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई ॥

भारतेन्दु के अन्य समकालीन कवियों में भी इस जागृति के लक्षण प्रकट हुए। बंग-भंग के कारण पूरे देश में बिजली-सी दौड़ गई। इसी समय बंकिम बाबू ने अपने क्रांतिकारी उपन्यास लिखे और 'वन्दे मातरम्' गीत की रचना की। यह हिन्दी में प्रगतिवाद का पहला क़दम था। दूसरा क़दम प्रगतिशील साहित्य में था भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का इस क्षेत्र में आना। देखिये मातृ-भूमि का आपने कितना सुन्दर चित्र खींचा है:—

नीलाम्बर परिधान हरित-पट पर सुन्दर है।
सूर्यचन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है॥
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारा-मण्डल है।
बन्दी-जन खग-वृन्द, शेष फन सिंहासन है॥
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृ-भूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

गान्धीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन का देश के जन-जीवन पर यथार्थ प्रभाव पड़ा। अनेक लेखक और कवि भी इस तूफान में बह गए। जिनमें अग्रगण्य प्रेमचन्द्र, 'एक भारतीय आत्मा', 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान के नाम उल्लेखनीय हैं। स्व० प्रेमचन्द ने दृढ़ हाथों से साहित्य का रुख़ जीवन की ओर पलटा। भारत की ग्रामीण और नागरिक समाज-योजना की आपने गम्भीर और मार्मिक विवेचना की। समाज के शोषक और शोषित वर्ग की पहेली को आपने समझा और इन समस्याओं का अपनी कहानियों में विशद चित्रण किया। प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्त तक गान्धीवादी रहे

और अपने साहित्य में इस आशा को स्थान देते रहे कि हृदय-परिवर्तन से समाज सुधर जायगा।

राष्ट्रीय जागृति के साथ अनेक गायक भी पैदा हुए, इनमें 'नवीन' जी का नाम उल्लेखनीय है। इनके गीतों ने समाज में विद्रोह की भावना फूँकी:—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का धुआंधार जग में छा जाये।
बरसे आग जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें।
पाप-पुण्य सब सद्भावों की धूल उड़ उठे दायें-बांयें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

राष्ट्रीय जागृति के साथ-साथ देश में समाजवाद की भावना बल पकड़ती गई। साथ-साथ ही साहित्य भी समाजवाद की की ओर अकृष्ट होने लगा। साहित्य की यह समाजोन्मुखता ही प्रगतिवाद है। इस विचार-धारा ने हमारा ध्यान राष्ट्रीय आन्दोलन और देश की भीषण परिस्थितियों की ओर मोड़ दिया। देश की अधिकांश पीड़ित और शोषित जनता के शोषण के विरुद्ध कलाकार ने भी लेखनी उठाई। उसकी इस विद्रोह-भावना के साथ प्रगतिवाद का विकास हुआ।

अब हमें उस साहित्य पर कुछ विवेचन करना है जिसे आज प्रगतिशील साहित्य का नाम देकर जनता में उसका खूब प्रचार किया जारहा है। देश में राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल के साथ अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं विचार-धाराओं का प्रभाव भी काफी पड़ा। पश्चिम के युगान्तरकारी

साहित्य के ज्वार में हमारे बहुत-से साहित्यकारों के संस्कार बह गए। उन्होंने यथार्थवाद के नाम पर एक ऐसे साहित्य का निर्माण प्रारम्भ किया जो साहित्य की वास्तविकता से कोसों दूर होकर एक प्रचार-मात्र है। इन साहित्यकारों पर विशेषतः रूसी साहित्य का प्रभाव अधिक पड़ा। किन्तु इन नवीन साहित्यिकों ने जीवन की वास्तविकता के रस का अनुभव न करके केवल रूसी साहित्य का अन्धानुकरण ही किया है। हम मानते हैं कि भारत के ८६ प्रतिशत निवासी किसान हैं, जो कृषि से अपनी आजीविका चलाते हैं और उनके जीवन में प्रवेश करने के अनेक अवसर हमारे सामने आते हैं। किन्तु देखना यह है कि क्या हमारे प्रगतिवादी साहित्यकार उनके जीवन की वास्तविक अनुभूति प्राप्त कर सके हैं? क्या वे अपनी साहित्य-साधना द्वारा उनके असन्तुष्ट जीवन के चित्रों को ज्वालामुखी का रूप देने में सफल हुए हैं? इसका उत्तर आपको 'नहीं' में मिलेगा। जिस रूसी साहित्य का अनुकरण हमारे आधुनिक साहित्यिक कर रहे हैं वह सत्य और वास्तविकता में आमूल डूबा हुआ है, वह अपने दुःख में बहुत प्राचीन और आँसुओं में बहुत बुद्धि-सम्पन्न है। वह साहित्य वास्तविक जीवन के अभावों से उत्पन्न हुआ है और उसमें क्रन्दन और विद्रोह का स्वर मस्तिष्क से नहीं, हृदय से निकला है। फिर ऐसे साहित्य का अनुकरण करके भी हमारे आधुनिक लेखक अपने साहित्य में जीवन की वास्तविकता क्यों नहीं ला सकते? इसका कारण यही है कि हमारे साहित्यकारों ने इसकी तीव्रता के आगे सिर झुका दिया है। वे इसकी उष्णता तो प्राप्त कर सके हैं, किन्तु प्रकाश नहीं। जीवन पर आघात करने वाली जो प्रेरणा और आक्रमण-

शक्तिरूसी लेखकों के पास है वह हमारे हिन्दी-लेखकों के पास नहीं। साहित्य में वास्तविकता का प्रश्न जीवन के प्रभावों से उठता है और उन प्रभावों को समझने की क्षमता आज हमारे साहित्यकारों में नहीं के बराबर है। इस रूसी साहित्य के प्रभाव ने हमारे साहित्यकारों को परम्परागत साहित्यिक संस्कारों से रहित कर दिया है और आज हमारे लेखकों को अपनी रचनाओं की प्रेरणा हमारी संस्कृति से न मिलकर रूस के राष्ट्रीय सिद्धान्तों से मिल रही है। यदि हमारे साहित्यकार चाहें तो वे अपनी अन्वीक्षण शक्ति से ही अपने देश की अवस्था से यथेष्ट सामग्री प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। वे अपने जीवन से ही ऐसी अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं जो अन्य देशों के जीवन के लिए भी अनुकरणीय बन सकती है; किन्तु खेद है कि हमारे आधुनिक साहित्यकार अपने देश और राष्ट्रीयता में अधिक महत्व नहीं समझते।

पश्चिम के युगान्तरकारी साहित्य से हमारे सहित्य का हित—और अहित—दोनों ही बातें हुई हैं। हित तो यह हुआ है कि हमारे साहित्य का दृष्टिकोण बहुत-व्यापक और विस्तृत हो गया है। जीवन के लौकिक पक्ष की ओरसे हम अधिक जागरूक हो गए हैं और संसार के विविध क्षेत्रों की प्रगति को भी हम साहित्य की सीमा में बांध सके हैं। हमारी दृष्टि ललित साहित्य में ही केन्द्रीभूत न होकर उपयोगी साहित्य की ओर भी गई है और साहित्य की परिधि अनेक विषयों को घेरकर बहुत विस्तृत बन गई है। हम अपने जीवन में अनेक द्वारों से प्रवेश पा सके हैं और अपने अनुभव को अधिक संक्रिय बना सके हैं। किन्तु इन सब हितों के साथ जो अहित

भी हुए हैं, उन पर हमारी दृष्टि पड़े बिना नहीं रह सकती। पहला अहित तो यह कि पश्चिमी साहित्य के ज्वार में बहकर हमारे साहित्यकार अपने साहित्यिक संस्कारों को बिलकुल भूल गए। यह ठीक है कि साहित्य अपनी चरम उन्नति में सार्वजनीन बन जाता है, किन्तु वह जिस समाज और जिस राष्ट्र में निर्मित होता है उसके संस्कारों की छाप नहीं भूल जाता—और भूल जाय तो उस साहित्य का कोई मूल्य नहीं रहता। आप फ्रांस, जर्मनी,, इंग्लैंड और रूस के साहित्य के उदाहरण लीजिए---प्रत्येक साहित्य के पीछे उसके राष्ट्र की युग-युग की साधना छिपी रहती है, शैक्सपीयर के नाटकों में, टाल्स्टाय की कहानियों में, तुलसीदास के काव्य में हम विश्व-जनीनता नहीं पाते ? किन्तु उन महान् साहित्यिकों के राष्ट्रगत संस्कार उनके साथ हैं। स्व० प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीय आदर्श पूर्ण स्वाभाविकता लिये हुए हमारे जीवन की प्रगतिशीलता का द्योतक है। फिर हमारे प्रगतिवादी कहे जाने वाले आधुनिक साहित्यकार अपने राष्ट्र-गत संस्कारों को क्यों तिलांजलि दे रहे हैं ? इसका उत्तर यही है कि यह उनकी भूल है, क्षुद्र दृष्टिकोण है---अन्धानुकरण है।

पश्चिम के यथार्थवाद के प्रभाव में हम अपने साहित्यगत व्यक्तित्व को तो भूल ही गए हैं। साथ ही हम अपनी उच्छृंखलता में साहित्य की समस्त मर्यादाओं को भी मिटा रहे हैं। आज के प्रगतिवादी कवि ने अपनी कविता की स्वतन्त्रता में छन्द को सबसे बड़ा बन्धन मानकर उसके हाथ-पैर तोड़ डाले हैं। जब मात्राओं की कैद ही उसे असह्य है तो 'वर्ण-वृत्तों' के 'गणों' की तो बात ही क्या है ? उन्हें तो वह शिवजी के गणों से भी अधिक भयंकर समझता है। कविता के सौन्दर्य और लालित्य

की ओर से तो बिलकुल आँखें बन्द कर ली गई हैं। मैं पूछता हूं, कि फिर पद्य और गद्य में अन्तर ही क्या रह गया। एक कविता देखिए:—

"पुरानी लीक से हटकर
बड़ी मजबूत चट्टानी-रुकावट का प्रबलतम धार से कर सामना डटकर
विरल निर्जन कँटीली भूमि पथरीली बिलगकर
पार कर जल-धार उतरी
मानवी जीवन धरातल पर,
सहज अनुभूति-अंतम् प्रेरणा-बल पर।"

अब आप बताइए कि ऊपर के पदों को कविता कहें अथवा गद्य-काव्य? हमारे विचार से इसे रबड़ छन्द कहा जाय तो ठीक होगा। चाहे जितना बढ़ा लो और चाहे जितना घटालो। और लीजिये:—

"बुझते दीप फिर से आज जलते हैं
कि युग के स्नेह की अनुभूति ले जल-जल मचलते हैं
सघन-जीवन-निशा विद्युत् लिये
मानो अंधेरे में बटोही जा रहा हो टार्च ले
जब-जब करें डगमग चरण
तब-तब करे जगमग
य' जीवन पूर्णता का मग
कल्मष नष्ट
पथ से भ्रष्ट!"

मर्यादाओं को तोड़ने का जोश तो इतना भीषण हो गया है कि कुछ कवियों ने व्यक्तिगत सदाचार को भी तिलाँजलि दे दी है। अश्लील-से-अश्लील पंक्ति लिखने में उन्हें झिझक नहीं

होती। नारी को वे गाली दे रहे हैं और दुःशासन की भाँति उसका वस्त्र खींचने में अपनी शक्ति की पूर्ति समझ रहे हैं। ऐसे कवि अपने को प्रगतिशील कहते हैं? हमारे नवीन साहित्य-कारों की यथार्थवाद सम्बन्धी नग्नता के साथ अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई है। आज का लेखक अभी तक अपने विचारों और सिद्धान्तों में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सका है। वह अपने साहित्यिक जीवन में कीट्स और शेली अथवा टाल्स्टाय और चेखव तो बनना चाहता है। किन्तु वह स्वयं जो कुछ है वह नहीं बनाना चाहता। यही कारण है कि उसकी रचनाओं पर व्यक्तित्व की छाप नहीं होती।

वास्तव में प्रगतिशील साहित्य वही है जो समाज को प्रगति के पथ पर अग्रसर करे, मनुष्य के विकास में सहायक हो। ऐसा साहित्य ही प्रगतिशील अथवा श्रेष्ठ साहित्य है। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि "क्या प्रगतिशील होने पर ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है?" शायद इसका यह आशय है कि कभी-कभी कोई कृति साहित्यिक न होने पर भी विषय-वस्तु के कारण ही प्रगतिशील एवं श्रेष्ठ मान ली जाती है। उदाहरण के लिए बंगाल के अकाल पर बहुत-से लोगों ने कविताएं लिखीं। किसी विशेष कविता में मार्मिकता नहीं है,फिर भी वह तर्क-सङ्गत समाज-हितैषी बात कहती है, तो क्या उसे श्रेष्ठ कविता मान लिया जाय? इसका उत्तर यही है कि प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है, जब वह साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता—तो केवल नारा लगाने से अथवा विचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता। हमें ऐसा साहित्य चाहिए जो एक ओर तो कला की उपेक्षा न करे; रस-सिद्धान्त

के नियामक जिस आनन्द की माँग करते हैं, वह साहित्य से मिलना चाहिए। भले ही उसका एक-मात्र उद्गम रसराज न हो, भले ही उसकी परिणति आत्मा की चिन्मयता और अखंडता में न हो। कलात्मक सौष्ठव के साथ-साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास एवं प्रगति में सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिए। तभी वह अभिवन्दनीय हो सकता है; फिर उसे प्रगतिशील अथवा किसी भी नाम से पुकारा जाय।



: ११ :

गद्य का विकास

हिन्दी-साहित्य में गद्य का आविर्भाव-पद्य के आविर्भाव काल के आस-पास ही हुआ होगा, किन्तु आगे जाकर यह मर्यादापरम्परित नहीं हो सकती। गद्य-साहित्य के आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों का मतभेद रहा है। इसका एक कारण यह भी है कि गद्य-साहित्य अपने परम्परित रूप में नहीं मिलता। दूसरी जातियों के साहित्य की भांति हिन्दी-साहित्य में भी पहले पद्य-साहित्य रचा गया और आगे चलकर जनता की आवश्यकताओं तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ गद्य-साहित्य भी अस्तित्व में आया।

हिन्दी-साहित्य के चार मुख्य भाग किये जाते हैं—(१) वीर-गाथा-काल (२) भक्ति-काल (३) रीति-काल (४) आधुनिक

काल (गद्य काल)। प्रारम्भिक तीन विभागों में हिन्दी का साहित्य प्रायः पद्यमय ही उपलब्ध होता है। इन कालों का नामकरण भी इसी यथार्थता को सिद्ध करता है। हिन्दी के आधुनिक काल को गद्य काल कहते हैं क्योंकि इस काल की मुख्य विशेषता गद्य का ही आविर्भाव है।

हिन्दी के प्राचीनतम उपलब्ध गद्य के विषय में अभी तक अनेक मत प्रचलित हैं। अन्तिम खोज के अनुसार १२ वीं शताब्दी के दो दान-पत्रों का उल्लेख मिलता है, जिनमें एक राजा पृथ्वी-राज का है तथा दूसरा रावल समरसिंह का। इन दान-पत्रों की भाषा हिन्दी के प्राचीन गद्य का नमूना है। इनकी भाषा अस्पष्ट और उलझी हुई है। इसके पश्चात् १४ वीं शताब्दी में हिन्दी के गद्य-लेखक गोरखनाथ जी का उल्लेख मिलता है। वैसे तो इनके नाम पर बहुत-सी पुस्तकें प्रचलित हैं, किन्तु उनमें से २-३ पुस्तकें ही वास्तव में इनकी हैं; शेष इनके शिष्यों द्वारा लिखी गई प्रतीत होती हैं।

इसके पश्चात् श्री वल्लभाचार्य के पौत्र तथा श्री विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ जी की रची हुई दो गद्य-पुस्तकें मिलती हैं। इसी समय तथा इसके आस-पास कई फुटकर कवियों तथा महात्माओं के गद्य के नमूने उपलब्ध होते हैं। इनमें से श्री विट्ठलनाथ जी की 'शृंगार-रस-मंडन' का उल्लेख विद्वानों ने किया है। इसके अतिरिक्त सर्वश्री नाभा, तुलसी, देव, बनारसी-दास, सुरति मिश्र तथा भिखारीदास आदि कवियों के भी कुछ गद्यांश मिलते हैं। इसी समय कुछ लोगों ने टीकाएं भी लिखीं, जिनमें किशोरीलाल और जानकीप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में जिस गद्य का उल्लेख किया है, उसे एक शब्द में ब्रज-भाषा का गद्य कहना उपयुक्त होगा।

कविता की भाषा में समय के साथ-साथ परिवर्तन होता जा रहा था। वीर-गाथा-काल में अपभ्रंश और भक्ति-काल में ब्रज-भाषा तथा अवधी ने भी साहित्यिक भाषा का स्थान ले लिया, किन्तु खुसरो और कबीर की भाषा में खड़ी बोली का पुट स्पष्ट दीखता है। जटमल नामक लेखक ने 'गोरा-बादल की कथा' में खड़ी बोली के गद्य का ही प्रयोग किया है। इसी समय अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा 'चंद-छंद-वर्णन' का उल्लेख है। इसकी भाषा भी खड़ी बोली का पुट लिये हुए है।

हिन्दी-गद्य के विकास में १९ वीं शताब्दी सदा के लिए स्मरणीय रहेगी। वैसे तो 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की स्थापना के साथ ही किसी ऐसी भाषा की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था, किन्तु १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक किसी प्रकार से काम चलता रहा। फोर्ट विलियम कालिज कलकत्ता के स्थापित हो जाने पर इस ओर ध्यान दिया गया और जान-गिल्ला क्राइस्ट की प्रेरणा पर कालिज में हिन्दी के अध्यापन तथा पुस्तकें लिखने का कार्य आगरे के लल्लूलाल तथा सदल मिश्र को सौंपा गया। लल्लूलाल जी ने 'प्रेम-सागर' और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान नामक ग्रन्थों की रचना की। इन दोनों लेखकों के अतिरिक्त यहाँ मुन्शी सदासुख-लाल और सय्यद इन्शाअल्ला खाँ के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सदासुखलाल जी ने 'सुख-सागर' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसकी भाषा आज की भाषा के बहुत समीप है। सय्यद इन्शाअल्ला खाँ उर्दू-फारसी के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर हिन्दी में एक नई शैली को जन्म दिया। इनकी भाषा पर उर्दू की मुहावरेदार पद्धति का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है।

उपर्युक्त चार लेखकों को हिन्दी-गद्य का प्रतिष्ठापक माना जाता है। इन चारों लेखकों के गद्य में काफी विभिन्नता है। लल्लूलाल जी की भाषा ब्रज-भाषा-मिश्रित है। सदल मिश्र की भाषा व्याकरण की दृष्टि से काफी असंगत है। सय्यद इन्शा की भाषा उर्दू की मुहावरेदार पद्धति के साथ-साथ रंगीलापन लिये हुए है। सदासुखलाल की भाषा पर भी पूर्वी का प्रभाव है। इन चार लेखकों के पश्चात् हिन्दी-गद्य की परम्परा-सी चल पड़ी। अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ ईसाई-मिश्नरी भी भारत में आये और उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए सिरामपुर में एक प्रेस भी खोला और अपने धर्म-ग्रन्थों के अनुवादादि इसी भाषा में छपवाकर जनता में वितरित किये।

इसी समय दो प्रमुख लेखक हमारे सामने आये—राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह। राजा शिव प्रसाद शिक्षा-विभाग के इन्स्पैक्टर थे और राजा लक्ष्मणसिंह ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से एक अच्छे पद पर नियुक्त थे। राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस अखबार' के नाम से एक हिन्दी-अखबार भी निकाला। किन्तु उसकी भाषा में उर्दू-फारसी की इतनी भरमार थी कि उसे हिन्दी कहते हुए भी संकोच होता है। इस प्रकार राजा साहब ने नागरी अक्षरों में उर्दू को प्रचारित किया, किन्तु दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा शुद्ध हिन्दी थी। उन्होंने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी में अनुवाद किया। उसकी भाषा मंजी हुई शुद्ध हिन्दी तथा उनका दृष्टिकोण काफी सुलझा हुआ था।

इस प्रकार हमारे गद्य में दो प्रमुख धाराएं हो गई—एक उर्दू-मिश्रित, दूसरी शुद्ध हिन्दी। इसी समय स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना के साथ-साथ हिन्दी-

प्रचार में काफी सहायता प्रदान की। उनकी भाषा तत्सम हिन्दी है।

अव्यवस्था की इस दशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हमारे सामने आये। उन्होंने शुद्ध हिन्दी को अपना कर हिन्दी-गद्य की विभिन्न शैलियों का सूत्रपात किया। जिन्हें हम भावावेश, तथ्य-निरूपण तथा विचारात्मक शैली कह सकते हैं। गद्य के विभिन्न विभागों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने साहित्य-समाज की स्थापना की। 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'कवि-वचन सुधा' नामक पत्रिकाएं निकालीं।

बाबू हरिश्चन्द्र को यदि हम आधुनिक हिन्दी का जन्म-दाता कहें, तो उपयुक्त ही होगा। आपने तथा आपके सह-योगियों ने हिन्दी-गद्य-शैली पर एक अमिट छाप छोड़ दी है। इस शैली पर विचार करते हुए हमें दो बातें माननी पड़ेंगी। पहली तो यह कि इसमें एक जिन्दादिली है, जो आज के गद्य में प्रायः नहीं मिलती। दूसरी यह कि इस भाषा में परिष्कार की आवश्यकता है और अपने तात्कालिक रूप में वह शैली आज ग्रहण नहीं की जा सकती। एक बात ध्यान देने की यह है कि भारतेन्दु-युग के लेखक आज के लेखकों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट थे। उनके सामने हिन्दी-गद्य की कोई विकसित परम्परा न थी और इसलिए होना तो यह चाहिए था कि संस्कृत के शब्दों की भरमार से उनकी शैली बोझल बन जाती। किन्तु उसके विपरीत उनकी शैली में एक विशेष जिन्दादिली है। इसका यह मतलब नहीं कि उनकी शैली में हँसी-मजाक की गुंजाइश ही अधिक रहती थी—उस युग में गम्भीर आलोचनाएं भी काफी लिखी गईं। उस समय के अधिकतर लेखक यह प्रयत्न करते थे कि कठिन और

उपर्युक्त चार लेखकों को हिन्दी-गद्य का प्रतिष्ठापक माना जाता है। इन चारों लेखकों के गद्य में काफी विभिन्नता है। लल्लूलाल जी की भाषा ब्रज-भाषा-मिश्रित है। सदल मिश्र की भाषा व्याकरण की दृष्टि से काफी असंगत है। सय्यद इन्शा की भाषा उर्दू की मुहावरेदार पद्धति के साथ-साथ रंगीलापन लिये हुए हैं। सदासुखलाल की भाषा पर भी पूर्वी का प्रभाव है। इन चार लेखकों के पश्चात् हिन्दी-गद्य की परम्परा-सी चल पड़ी। अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ ईसाई-मिश्नरी भी भारत में आये और उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए सिरामपुर में एक प्रेस भी खोला और अपने धर्म-ग्रन्थों के अनुवादादि इसी भाषा में छपवाकर जनता में वितरित किये।

इसी समय दो प्रमुख लेखक हमारे सामने आये—राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह। राजा शिव प्रसाद शिक्षा-विभाग के इन्स्पैक्टर थे और राजा लक्ष्मणसिंह ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से एक अच्छे पद पर नियुक्त थे। राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस अखबार' के नाम से एक हिन्दी-अखबार भी निकाला। किन्तु उसकी भाषा में उर्दू-फारसी की इतनी भरमार थी कि उसे हिन्दी कहते हुए भी संकोच होता है। इस प्रकार राजा साहब ने नागरी अक्षरों में उर्दू को प्रचारित किया, किन्तु दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा शुद्ध हिन्दी थी। उन्होंने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी में अनुवाद किया। उसकी भाषा मँजी हुई शुद्ध हिन्दी तथा उनका दृष्टिकोण काफी सुलझा हुआ था।

इस प्रकार हमारे गद्य में दो प्रमुख धाराएं हो गईं—एक उर्दू-मिश्रित, दूसरी शुद्ध हिन्दी। इसी समय स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना के साथ-साथ हिन्दी-

प्रचार में काफी सहायता प्रदान की। उनकी भाषा तत्सम हिन्दी है।

अव्यवस्था की इस दशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हमारे सामने आये। उन्होंने शुद्ध हिन्दी को अपना कर हिन्दी-गद्य की विभिन्न शैलियों का सूत्रपात किया। जिन्हें हम भावावेश, तथ्य-निरूपण तथा विचारात्मक शैली कह सकते हैं। गद्य के विभिन्न विभागों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने साहित्य-समाज की स्थापना की। 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'कवि-वचन सुधा' नामक पत्रिकाएं निकालीं।

बाबू हरिश्चन्द्र को यदि हम आधुनिक हिन्दी का जन्म-दाता कहें, तो उपयुक्त ही होगा। आपने तथा आपके सह-योगियों ने हिन्दी-गद्य-शैली पर एक अमिट छाप छोड़ दी है। इस शैली पर विचार करते हुए हमें दो बातें माननी पड़ेंगी। पहली तो यह कि इसमें एक जिन्दादिली है, जो आज के गद्य में प्रायः नहीं मिलती। दूसरी यह कि इस भाषा में परिष्कार की आवश्यकता है और अपने तात्कालिक रूप में वह शैली आज ग्रहण नहीं की जा सकती। एक बात ध्यान देने की यह है कि भारतेन्दु-युग के लेखक आज के लेखकों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट थे। उनके सामने हिन्दी-गद्य की कोई विकसित परम्परा न थी और इसलिए होना तो यह चाहिए था कि संस्कृत के शब्दों की भरमार से उनकी शैली बोझल बन जाती। किन्तु उसके विपरीत उनकी शैली में एक विशेष जिन्दादिली है। इसका यह मतलब नहीं कि उनकी शैली में हँसी-मजाक की गुंजाइश ही अधिक रहती थी—उस युग में गम्भीर आलोचनाएं भी काफी लिखी गईं। उस समय के अधिकतर लेखक यह प्रयत्न करते थे कि कठिन और

दुरूह बातों को भी आसानी से समझा दें, जब कि आज के अधिकतर लेखकों की यह कोशिश होती है कि साधारण बातों को भी असाधारण शब्दावली में प्रकट करके अपने निबंध को गम्भीर बना दें।

भारतेन्दु युग की गद्य-शैली पर विचार करने से उसकी कुछ ऐसी विशेषताएं सामने आती हैं, जो बाद के गद्य में बहुत कम मिलती हैं। पहली विशेषता यह है कि उन लेखकों के मन में शब्दों का चुनाव करते हुए किसी तरह के निषेध का विचार आड़े नहीं आता था। वे आज के कुछ लेखकों की भांति यह नहीं सोचते थे कि अमुक शब्द का प्रयोग गद्य में किया जाय अथवा नहीं। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने नई हिन्दी का रूप संवारते हुए बंगला और संस्कृत की ओर ध्यान दिया, किन्तु सबसे अधिक ध्यान उन्होंने उस भाषा पर दिया जो नित्य ही उनके कान में पड़ती थी। भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली का आधार बोल-चाल की भाषा है। उस समय के निबन्धों को पढ़िये—तो यह नहीं लगता कि इन्हें किसी ने लिखा है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक हमसे बातें कर रहा है और हम छापे के अक्षरों में भी उसकी आवाज़ सुन रहे हैं।

बोल-चाल की भाषा को आधार बनाने से ही भारतेन्दु-युग के लेखक अपनी शैली में एक बहुत ही बलवती ग्राहिका शक्ति पैदा कर सके थे। वे जिस शब्द को भी चाहते थे, हिन्दी में पचा लेते थे, इस तरह वे फारसी, अरबी और अंग्रेजी के शब्दों का ही रूपान्तर न कर लेते थे, प्रत्युत हिन्दी और संस्कृत का भेद मानते हुए संस्कृत शब्दों का भी रूपान्तर कर लेते थे। हमारी ग्रामीण भाषाओं में यह प्रवृत्ति है कि संस्कृत के शब्द अपने सरल तद्भव रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

भारतेन्दु-युग के लेखकों ने अपनी शैली में इस प्रवृत्ति को उभारा। उन्होंने तद्भव शब्दों का अधिकता से प्रयोग किया इसके अतिरिक्त ग्राम-भाषाओं से भी, जहां तक हो सका, शब्द खींचे और इस तरह नई हिन्दी को समृद्ध किया।

इसी समय आचार्य द्विवेदी जी मैदान में आये। अब तक हिन्दी-गद्य की विभिन्न शैलियों का जन्म हो चुका था, किन्तु उनकी व्यवस्था अभी तक न हो सकी थी। आचार्य जी ने सबसे पहले हिन्दी-गद्य को मर्यादित और व्यवस्थित किया तथा उसे व्याकरण-सम्मत बनाया। हिन्दी में विराम-चिन्हों का प्रयोग चलाया। इन सब बातों के लिए उन्हें 'सरस्वती' का क्षेत्र भी मिल गया। १८ वर्षों तक निरन्तर 'सरस्वती' का सम्पादन करके आपने इस ओर विशेष ध्यान दिया। भाषा-संस्कार तथा उसे व्याकरण-सम्मत बनाने में उन्होंने विशेष रूप से प्रगति दिखाई। उन्होंने अपने जीवन-काल में न जाने कितने लेखक तैयार किये।

आचार्य द्विवेदी जी ने जो अन्य उल्लेखनीय कार्य किया, उसे हम शैलीकार का कार्य करते हैं। उन्होंने विभिन्न शैलियों को व्यवस्थित तथा मर्यादित किया। भारतेन्दु द्वारा प्रचारित तीन शैलियों-भावावेश, तथ्य-निरूपण तथा विचार-पूर्णता-को उन्होंने फिर से मर्यादित तथा स्थिर किया। किन्तु साथ ही द्विवेदी-युग की शैली में एक त्रुटि भी घर कर गई। इस युग के कवि बोल-चाल की भाषा से कुछ दूर भागने लगे। एक शब्द को वे जानते हैं, बातचीत में उसका प्रयोग भी करते हैं, किन्तु गद्य में उसे लिखें या न लिखें, यह प्रश्न बार-बार लेखकों के सामने आता था। यही कारण है कि द्विवेदी-युग में हिन्दी-गद्य-शैली में वह जिन्दादिली न रही, जो भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली में थी।

द्विवेदी जी के समय में ही कुछ लेखक ऐसे प्रकाश में आये, जिन्होंने हमारे गद्य-साहित्य में नवजीवन का संचार किया। मुन्शी प्रेमचन्द और जयशंकर'प्रसाद' ने हिन्दी के उपन्यास, कहानी तथा नाटक-साहित्य में जो क्रान्ति उत्पन्न की, वह साहित्य के इतिहास मे सदा के लिए स्मरणीय रहेगी। कविता, नाटक, गद्य, अनुवाद, कहानी तथा पत्र-पत्रिकाओं ने सभी दिशा में साहित्य को समृद्ध किया।

उपन्यास-कला के विकास ने हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में जो आशातीत सफलता प्राप्त की, उसका अधिकांश श्रेय मुन्शी प्रेमचन्द जी को है। इस युग के प्रवर्त्तकों में मुन्शी जी का एक ऊंचा स्थान है। उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ और काफी उपन्यास लिखे। प्रेमचन्द जी ने बोल-चाल की भाषा को अपना आधार बनाकर उपन्यासों की रचना की। यही कारण है कि उन्हें हिन्दी-साहित्य-जगत् में इतनी सफलता प्राप्त हुई। प्रेमचन्दजी की भाषा पर उर्दू का भी कुछ प्रभाव दिखाई देता है, क्योंकि वे उर्दू के भी एक सफल लेखक थे। उनकी भाषा कुछ चलती और मुहावरेदार है। 'प्रसाद' ने भी इस क्षेत्र में सफलता पूर्वक कितनी ही कहानियाँ और उपन्यास लिखे। 'प्रसाद' एक सफल गद्य-लेखक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कवि भी थे।

पुस्तक-रचना के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं ने भी हिन्दी-गद्य के विकास में अपना पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। राजनीति, सामाजिक व्यवस्था, ऋतु-छटा, पर्व, त्योहार, जीवन-चरित, आलोचना आदि के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी-गद्य को परिष्कृत संस्कृत और समृद्ध करने वाले लेखकों ने समय-समय पर साहित्य को गति प्रदान की है। आलोचना तथा उच्च कोटि के निबन्ध-लेखकों का भी गद्य के परिमार्जन

में पूरा-पूरा सहयोग है। ठाकुर जगमोहनसिंह एक मधुर गद्य-लेखक के रूप में हमारे सामने आते हैं। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्य-काव्य-मीमांसा,' आदि अनेक गद्य की पुस्तकें लिखी हैं। माधवप्रसाद मिश्र ने स्वामी विशुद्धानन्द जी का जीवन-चरित्र लिखकर गद्य को एक नवीन मार्ग दिखलाया। बा० गोपालराम गहमरी के निबन्धों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक थी। बा० श्यामसुन्दरदास जी ने कई परीक्षोपयोगी पुस्तकें लिखकर आलोचना के मार्ग को प्रशस्त किया। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी एक अनूठी लेखन-शैली लेकर साहित्य के क्षेत्र में अवतरित हुए। इनके लेखों में पाण्डित्य-पूर्ण हास और गम्भीरता देखने को मिलती है। बाबू गुलाबराय ने विचारात्मक और भावनात्मक निबन्धों द्वारा गद्य का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अतिरिक्त अनेक लेखकों ने कहानी आदि लिखकर गद्य-साहित्य का परिवर्द्धन किया है।

हिन्दी-लेखकों की तरुण पीढ़ी देश में एक महान परिवर्तन देख रही है और इस परिवर्तन से भाषा और साहित्य के क्षेत्र में लाभ उठाना इस नई पीढ़ी का ही काम होगा। भाषा-विज्ञान के आचार्य हिन्दी के चाहे जिस रूप की कल्पना करें, भारत के इतिहास ने उसके दूसरे ही रूप को रचना और संवारना शुरू कर दिया है। अभी तक हम हिन्दी को जनता की भाषा कहते आए थे, लेकिन जनता का ९० प्रतिशत भाग हमारी इस हिन्दी से अपरिचित था। अब समय आ गया है कि ९० प्रतिशत जनता शिक्षित होकर अपनी भाषा को पहचाने और उसका रूप संवारने में हाथ बटाय। वास्तव में जनता ही संस्कृति की निर्मात्री है, वही तद्भव और तत्सम रूपों का संस्कृत और प्राकृत रूप का, मातृ-भाषा और राष्ट्र-भाषा के प्रश्नों का समा-

का पूरा-पूरा रङ्ग रहता था। ये निबन्ध वर्णनात्मक तथा भावात्मक दोनों ही प्रकार के होते थे। यद्यपि आज के आलोचक उन निबन्धों को साहित्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं मानते, तथापि हमारी सम्मति में वे निबन्ध हिन्दी-साहित्य में निबन्ध-क्षेत्र की आधार-शिला थे।

इनके पश्चात् भारतेन्दु जी के समकालीन पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम निबन्ध-लेखकों में आता है। अंग्रेजी-साहित्य के 'सील' और एडीसन' की भाँति इन दोनों की भी जोड़ी थी। इन दोनों में भी 'एडीसन' की भाँति भट्ट जी का स्थान कुछ ऊंचा है। साहित्यिक दृष्टि से भट्ट जी के निबन्ध उच्चकोटि के हैं। इन्होंने ३२ वर्षों तक अपने पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' द्वारा साहित्य की अच्छी सेवा की और इस काल के बीच लगभग डेढ़ सौ से अधिक सुन्दर निबन्धों की रचना की। आपके निबन्ध अपनी शैली और चमत्कार-पूर्ण भाव-व्यंजना के कारण हिन्दी-साहिय में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। आपके निबन्धों में विचारशीलता, मनोरंजन, अलंकार-प्रियता, कल्पना-प्रेम सभी का उचित सामावेश है। किन्तु खेद यही है कि भट्ट जी के निबन्ध अभी तक पूर्ण प्रकाश में नहीं आ सके। केवल २५ निबन्धों का एक छोटा-सा संग्रह 'साहित्य-सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। यह संग्रह भी केवल परिचायक भूमिका का ही काम करता है।

भट्ट जी के उपरान्त पं० प्रतापनारायण मिश्र का स्थान है। मिश्र जी के लेखों में विनोद की मात्रा अधिक मिलती है। आपके लिए कोई भी विषय हो, उसे विनोदपूर्ण और मनोरंजक बना लेते थे। किन्तु आपका विनोद और हास्य इस कोटि का नहीं था, जिस कोटि का भट्ट जी का था। आपके हास्य

में ग्रामीणता अधिक थी। न ही आपके निबन्धों में वह सम्बद्धता थी, जो भट्ट जी के निबन्धों में प्राप्त है। मिश्र जी के निबन्धों के 'निबन्ध-नवनीत', 'प्रताप-पीयूष', तथा 'प्रताप-समुच्चय' नाम से तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

यह निबन्ध-साहित्य का प्रथम युग था। इन दो लेखकों के उपरान्त पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम आता है। यह 'आनन्द-कादम्बिनी' के सम्पादक थे। इन्होंने निबन्ध बहुत कम लिखे, और जो लिखे भी, वे साहित्यिक कोटि में नहीं आते। फिर भी 'हमारी मतहरी', 'फाल्गुन', 'मित्र', 'ऋतु-वर्णन', 'परिपूर्ण पावस' आदि इनके अच्छे निबन्ध हैं। इन्होंने कुछ आलोचनात्मक लेख भी लिखे, किन्तु उन्हें विशुद्ध निबन्ध नहीं कह सकते। इनके लेखों का कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। वास्तव में इनकी प्रसिद्धि नाटक तथा पद्यात्मक गद्य लिखने ही के कारण है। इस प्रकार निबन्ध-साहित्य की प्रारम्भिक रूपरेखा का निर्माण भट्ट जी, मिश्र जी तथा 'प्रेमघन' जी के द्वारा क्रमशः 'हिन्दी-प्रदीप' 'ब्राह्मण' तथा 'आनन्द-कादम्बिनी में लिखे गए अग्रलेखों द्वारा हुआ।

निबन्ध-साहित्य का दूसरा युग द्विवेदी-काल से आरम्भ होता है। द्विवेदी जी भारतेन्दु जी के समान ही एक युग-परिवर्तक थे। हिन्दी-कविता की भाषा तथा विचारावली के बदलने में एवं गद्य की अस्थिरता मिटाकर उसे व्याकरण-सम्मत बनाने में आपने सतत प्रयत्न किया है। सर्व प्रथम आपने 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से 'बेकन' के अंग्रेजी निबन्धों का अनुवाद किया। उसी काल के आस-पास 'चिपलूणकर' के मराठी निबन्धों का अनुवाद पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने 'निबन्धमालादर्श' के नाम से किया। इन दोनों पुस्तकों

ने एक प्रकार से निबन्ध-साहित्य के मार्ग का उद्घाटन किया। द्विवेदी जी एक ओर जहां स्वयं लेखक थे, वहाँ दूसरी ओर अपने साहित्यिक व्यक्तित्व के प्रभाव से इन्होंने अनेक लेखक भी उत्पन्न किये। आपके लेखों का एक-मात्र उद्देश्य हिन्दी-भाषा-भाषियों को अंग्रेजी, बङ्गला, मराठी आदि भाषाओं की साहित्यिक सम्वृद्धि से परिचित कराना था। आपके अधिकतर लेख भावोद्रेक या रसानुभूति नहीं कराते, प्रत्युत वे केवल विभिन्न विषयों के परिचायक-मात्र हैं। द्विवेदी जी के लेखों के सात प्रमुख संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। १-साहित्य-सीकर २-साहित्य-संदर्भ, ३-समालोचना-समुच्चय, ४-विचार-विमर्श, ५-रसज्ञ-रंजन, ६-लेखांजलि और ७-आलोचनांजलि। द्विवेदी-काल के निबन्धकारों में पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा बाबू गोपालराम गहमरी के नाम उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी जी के पश्चात पं० माधवप्रसाद मिश्र एक अच्छे निबन्धकार कहे जा सकते हैं। मिश्र जी के निबन्धों का संग्रह 'माधव मिश्र निबन्धमाला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह के विभिन्न विषयों को देखकर हमें मिश्र जी की बहुमुखी प्रतिभा में कोई सन्देह नहीं रह जाता। रामलीला व्यास-पूर्णिमा, हिन्दी भाषा, काव्यालोचना, स्वदेशी-आन्दोलन, परीक्षा, धृति, क्षमा आदि आपके अच्छे निबन्ध हैं।

श्री बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के अच्छे लेखक थे। पहले वे उर्दू के दो पत्रों का सम्पादन किया करते थे, बाद में 'भारत-मित्र' के सम्पादक बन गए उर्दू से परिचित होने के कारण आपके निबन्धों की भाषा बड़ी प्रभावमयी, मुहावरेदार तथा व्यावहारिक होती थी। आपके

अधिकांश लेखों में विनोद और परिहास की प्रचुर मात्रा रहती थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी के विरुद्ध आपने 'आत्माराम' के नाम से कुछ व्यंगपूर्ण लेख लिखे थे। आपका एक निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है, किन्तु अब वह अप्राप्य है। गुप्त जी के रचना-काल के आस-पास ही पं० गोविन्द-नारायण मिश्र प्रस्फुटित होते हैं। ये अपनी अनुप्रास-प्रियता, तत्समता एव काव्यमयी कल्पनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। आपके निबंधों का एक संग्रह 'गोविंद-निबंधावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

मिश्रजी के समकालीन बाबू श्यामसुन्दरदास तथा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं। उपाध्याय जी ने विशेष रूप से निबंध-रचना नहीं की। केवल प्रिय-प्रवास, रस-कलस और कबीर-वचनावली की भूमिका या कभी किसी साहित्यिक पत्रिका में लिखा हुआ उनका कोई लेख ही उनकी गद्य-रचना या निबंध-रचना के अन्तर्गत आ सकता है। हाँ बाबू श्यामसुन्दरदास एक अच्छे निबंधकार कहे जा सकते हैं। उन्होंने स्वयं अनेक सुन्दर निबंध लिखे और अन्य लेखकों से भी लिखवाये। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य आपका निबंधों का सम्पादन है। 'हिन्दी-निबंध-माला' दो भाग तथा 'हिन्दी-गद्य-रत्नावली' में लगभग तीस सुन्दर निबंध हैं। इन संग्रहों से विद्यार्थी-जगत् का बड़ा लाभ हुआ है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का नाम भी हिन्दी-निबंध के क्रमिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गुलेरी जी ने निबंध अधिक नहीं लिखे, पर जो कुछ भी लिखे वे नितान्त प्रौढ़, परिमार्जित एवं पूर्ण साहित्यिक हैं। आपकी कृतियों में पांडित्यपूर्ण हास्य का परिचय मिलता है। 'कछुआ धर्म'

और 'मारेसि मोंहि कुठाउँ' आपके अत्यन्त लोक-प्रिय निबंध हैं। इस प्रकार के सामाजिक एवं आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त आपने साहित्यिक और ऐतिहासिक लेख भी लिखे हैं। भाव, भाषा, आत्मीयता और व्यक्तित्व के विचार से आपका स्थान अपने समकालीन निबंध-लेखकों में सबसे ऊँचा है।

गुलेरी जी के समकालीन पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का भी निबंध-लेखकों में उल्लेखनीय स्थान है। आपने अधिकांश लेख निबंधों के उदाहरण स्वरूप लिखे, इसलिए साहित्यिक दृष्टि से वे उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते। हाँ, पढ़ने वाले विद्यार्थियों को उनसे पर्याप्त लाभ हुआ। आपने स्कूल की भिन्न-भिन्न कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकों के रूप में ही अधिक रचना की है। 'हिंदी-निबंध-शिक्षा' और 'प्रबंध-रचना-शैली' इसी प्रकार की पुस्तकें हैं। 'गद्य-माला' और 'निबंध-नियम' आपके दो निबंध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

निबन्ध-रचना का तीसरा एवं अंतिम युग आचार्य राम-चंद्र शुक्ल की सार्थक एवं सफल निबंध-कला से प्रारम्भ होता है। शुक्लजी की लेखनी में इतनी शक्ति थी कि वह आधुनिक समस्त निबन्ध-साहित्य के लिए मेरु-दण्ड-सी बन गई। आपके निबंधों की तुलना पश्चिम के प्रौढ़-से-प्रौढ़ निबंधकारों से आसानी से की जा सकती है। आपकी लेखनी का सहयोग पाकर निबंध-कला अपनी उत्कृष्ट विकासावस्था को प्राप्त हो सकी, इसमें किंचित् भी अत्युक्ति नहीं। करुणा, लोभ, प्रीति और क्रोध आदि विषयों पर आपने जो सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचना की, वह हिन्दी-साहित्य के लिए एक नवीन ही चीज था। रस्किन तथा बेकन की गंभीरता और दार्शनिकता के कारण

अंग्रेजी-साहित्य में जो स्थान प्राप्त है, वही हिन्दी-साहित्य में शुक्ल जी को प्राप्त है। आपके निबंध-संग्रह 'विचार-वीथी', 'चिन्तामणि' और 'त्रिवेणी' इन तीन नामों से हिन्दी-जगत के सम्मुख आये है। 'चिन्तामणि' की श्रेष्ठता पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है।

शुक्लजी के उपरांत निबंध-लेखकों में हमारा ध्यान सबसे पहले पं० पद्मसिंह शर्मा की ओर जाता है। इनके स्वतंत्र निबंध कम हैं, किन्तु इनकी अपनी शैली थी—अपना व्यक्तित्व था। आपके लेख समय-समय पर सरस्वती, विशाल-भारत, माधुरी आदि पत्रिकाओं में निकलते रहे हैं। आपके २२ लेखों का संग्रह 'पद्म-पराग' नाम से प्रकाशित हो चुका है। जिसमें अधिकांश महापुरुषों की जीवनियां हैं।

शर्मा जी के बाद श्री जयशंकर 'प्रसाद' का नाम भी निबंध-क्षेत्र में उल्लेखनीय है। वे प्रमुख रूप से कवि एवं नाटककार थे: पर उनकी मननशील प्रवृत्ति ने उनकी लेखनी से कुछ स्फुट निबंधों की रचना भी करा ही दी। आपके अधिकांश लेख 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'. के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रसाद जी के समकालीन, उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचंद जी के निबंधों की चर्चा कर देना भी यहां आवश्यक है। 'प्रसाद' जी की भाँति आपके निबंधों की संख्या भी अधिक नहीं है और इनमें से अधिकांश आपके क्षेत्र से ही सम्बंध रखने वाले हैं। 'हंस' और अन्य सामयिक पत्रों में आपके निबंध बराबर प्रकाशित होते रहते थे। आपके निबंधों का एक संग्रह 'कुछ-विचार' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

राय कृष्णदास जी के लेख निबंधों की दृष्टि से कोई अधिक महत्व नहीं रखते। हाँ उनके लेखों को रहस्यात्मक ढंग से लिखे गए गद्य-काव्य के उदाहरण में रख सकते हैं। ये लेख साधना, संलाप, पगला, छाया-पथ और प्रवाल नाम के पांच संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। इसी प्रकार के एक दूसरे निबन्ध-लेखक हैं—श्री वियोगी हरि। ये बड़े भावुक, भक्त-हृदय एवं साहित्यानुरागी हैं। इनके रहस्यात्मक ढंग के तीन निबन्ध-संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। जिनके नाम हैं—तरंगिणी, अंतर्नाद और ठंडे छींटे। 'साहित्य-विहार' नाम से इनका एक अन्य निबन्ध-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है।

श्री गुलाबराय जी के निबन्ध साहित्य, समालोचना एवं दार्शनिक दृष्टि से श्रेष्ठ श्रेणी के हैं। आपके निबन्धों का सुन्दर संग्रह 'प्रबन्ध-प्रभाकर' है और यों भी आपके निबन्ध समय-समय पर 'साहित्य-सन्देश' में निकलते रहते हैं। श्री गुलाबराय जी के निबन्धों पर उनके विशद अध्ययन की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है

गुलाबराय जी के उपरान्त हम श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को एक सफल निबन्धकार कह सकते हैं। ये हिन्दी के उद्‌भट विद्वान् होने के साथ-साथ पाश्चात्य भाषाओं और उनके साहित्य के भी पण्डित हैं। यही कारण है कि इनके निबन्धों में पश्चात्य ढंग की समीक्षा तथा पश्चिमीय साहित्य से भारतीय वाङ्मय की तुलना प्रायः देखी जाती है। आपके इसी दृष्टिकोण से लिखे गए इन निबंधों का एक संग्रह 'विश्व-साहित्य' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें इटली, फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों के साहित्य के प्रमुख तत्वों पर भारतीय

दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। निबंध-निर्माण-कला की दृष्टि से आपने एक अन्य पुस्तक 'प्रबंध-पारिजात' के नाम से लिखी है, किन्तु उसे हम साहित्यिक निबंधों की कोटि में नहीं रख सकते।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी उच्च-कोटि के लेखक एवं समालोचक हैं। इन दोनों महानुभावों के लेख हिन्दी-साहित्य की निधि हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की कुछ मूल्यवान कृतियां अपना अलग व्यक्तित्व रखती हैं, जिनमें 'सूर-साहित्य' एवं 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' उल्लेख-नीय हैं। इन दोनों लेखकों के साथ-साथ प्रभाकर माचवे का उल्लेख न करना एक अन्याय होगा। नई पीढ़ी के लेखकों में माचवे का एक विशेष स्थान है। इनके निबन्धों में परिहास और विनोद की प्रचुर मात्रा विद्यमान रहती है। इनकी शैली भी अपनी ही एक है, उच्चकोटि के पत्र-पत्रिकाओं में आपके निबन्ध समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं।

हिन्दी-साहित्य के गंभीर मर्मज्ञ और भाषा-शास्त्र के पंडित श्री धीरेन्द्र वर्मा के विभिन्न विषयों पर स्फुट निबन्ध भी उल्लेख-नीय हैं। आपकी शैली सरल और विचार तर्क-पूर्ण एवं सुलझे हुए होते हैं। इनके निबन्धों का संग्रह 'विचार-धारा' नाम से अभी प्रकाशित हुआ है। इधर डाक्टर रामकुमार वर्मा की 'साहित्य-समालोचना' और 'विचार दर्शन' उनके निबन्ध-कला-कौशल का उत्कृष्ट प्रमाण हैं। ऐसे गठे हुए निबन्ध हिन्दी में कम ही देखने को मिलते हैं।

आलोचनात्मक निबन्ध लिखने वालों में श्री रामकृष्ण जी शुक्ल तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी के नाम भी उल्लेखनीय हैं। साहि-त्यिक विषयों पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखने वालों में

द्विवेदी जी का ऊंचा स्थान है आपके निबन्धों के पाँच संग्रह 'हमारे साहित्य-निर्माता' 'कवि और काव्य' 'साहित्यिकी' 'जीवन-यात्रा' तथा 'संचारिणी' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

इधर श्री जैनेन्द्रकुमार ने हिन्दी-कहानी तथा उपन्यासों के अतिरिक्त निबंध लिखना भी प्रारम्भ किया है। शुद्ध साहित्य एव भाषा की दृष्टि से तो हम आपके निबंधों को अधिक महत्व नहीं दे सकते, हाँ विचारों के दृष्टिकोण से आपके निबंध अच्छे हैं। इन निबंधों के दो संग्रह 'जैनेन्द्र के विचार' तथा 'जड़ की बात' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

महाराज कुमार डा० रघुवीरसिंह का नाम भी निबंधकारों की कोटि में उल्लेखनीय है। आप हिन्दी-साहित्य के मर्मज्ञ और असाधारण विद्वान् हैं। निबंध की कला से भी आप अच्छी तरह अवगत हैं। इनके दो निबन्ध-संग्रह 'सप्तदीप' और 'शेष-स्मृतियां' प्रकाश में आ चुके हैं।

शुद्ध-निबन्ध-रचना की दृष्टि से कविवर सियारामशरण गुप्त एक अच्छे निबन्धकार कहे जा सकते हैं। एक सीधे रूप से आत्म-कथन आपके निबन्धों की विशेषता है। गुप्तजी के निबन्धों का संग्रह 'झूठ-सच' नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें २८ निबन्ध हैं। इनके अतिरिक्त सामाजिक विषयों पर श्री शीतलासहाय ने, अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी विषयों पर पं० दयाशंकर दुबे, श्री भगवानदास केला, श्री शंकरसहाय सक्सेना तथा प्राणनाथ विद्यालंकार ने और वैज्ञानिक विषयों पर डाक्टर गोरखप्रसाद तथा डा० सत्यप्रकाश आदि ने बड़े उपयोगी निबन्ध लिखे हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने भ्रमण सम्बन्धी अनेक रोचक निबन्धों की रचना की है।

निबन्ध-रचना के क्षेत्र में कुछ स्त्री-लेखिकाओं के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सुश्री चंदाबाई, कमलाबाई किबे, गोदावरी केलकर तथा चंद्रावती त्रिपाठी को इस क्षेत्र में सराहनीय सफलता मिली है। इधर सुश्री महादेवी वर्मा ने भी काव्य-साधना के साथ-साथ कुछ उच्च-कोटि के निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों का सुन्दर संग्रह 'अतीत के चल-चित्र' नाम से प्रकाशित हो चुका है, जो मनोवैज्ञानिक भाव-रेखाओं से बना हुआ अपना मौलिक व्यक्तित्व रखता है।



१३
उपन्यास

वर्तमान हिन्दी-उपन्यास गद्य का विकसित रूप है। हिन्दी में उपन्यास और कहानी पहले-पहल नानी और दादी की रोचक कहानियों को लेकर खड़े हुए और फिर बालकों की जिज्ञासा की वस्तु न रहकर बड़ों के मनोविनोद के साधन बने। हिंदी के उपन्यासों पर सबसे पहला प्रभाव उर्दू का पड़ा। प्रारम्भ में कुछ ऐयारी तिलिस्म के उपन्यास बने और कुछ वीरता की गाथाएं उनमें हमें पढ़ने को मिलीं। भारतेन्दु-काल के सर्वश्री देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी इसी उर्दू धारा से प्रभावित उपन्यासकार थे। इनसे पूर्व भी

द्वितीय चरण के अन्तर्गतहम सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, प्रतापनारायण मिश्र और इलाचन्द्र जोशी आदि की सेवाओं को कदापिनहीं भुला सकते। उन्होंने ऐन्द्रिकता की भावना को लेकर वासना को भुलाया और 'नारी' के प्रति एक नया दृष्टिकोण स्थापित किया।

द्वितीय चरण के बाद कुछ लेखक समाजवादी धारा के 'नये प्रयोग' को लेकर उसके सन्देश-वाहक अग्रदूत के रूप में आये। उनमें सर्व श्री राहुल सांकृत्यायन, सर्वदानन्द वर्मा, पहाड़ी, अश्क, कृष्णदास, अंचल और रांगेय राघव आदि प्रमुख हैं। इन्हें हम तृतीय चरण के उद्बोधक कह सकते हैं। श्री मोहनलाल महतो, ठाकुर श्रीनाथसिंह तथा श्री गुरुदत्त भी इसी चरण में आते हैं।

प्रथम चरण के उपन्यासकारों में प्रेमचन्द जी का नाम सर्व प्रथम आता है। वे जिस उर्दू की प्रेरणा लेकर हिंदी में आये थे, उसको देखते हुए तो हमें उनसे प्रेमकहानी ही सुनने की आशा थी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ, उन्होंने अपने उपन्यासों में जीवन के तत्कालीन संघर्ष का चित्रण करके हिंदी-साहित्य को एक नई चेतना दी। जिस समय प्रेमचन्द ने हिंदी में लिखना प्रारम्भ किया था उस समय महात्मा गाँधी का असहयोग-आन्दोलन अपने पूरे जोर पर था। प्रेमचन्द ने दर्जनों उपन्यास लिखे। सभी में किसानों की दुर्दशा और मध्यम वर्ग की कुरीतियों का चित्रण उन्होंने चतुरतापूर्वक किया है। उनके उपन्यासों में 'कर्मभूमि' 'रङ्गभूमि' 'गबन' 'सेवा-सदन' 'प्रेमाश्रम' 'प्रतिज्ञा' काया-कल्प' और 'गोदान' उल्लेखनीय हैं। हमें उनके साहित्य में आशा और उत्साह का सन्देश मिला है। प्रेमचन्द की चेतना इन्हीं दोनों के सम्मिश्रण

से उद्दीप्त हुई और यही प्रकाश उनकी रचनाओं को प्रसारित करने में सहायक हुआ। राष्ट्रीयता के रङ्ग में सराबोर उनकी कला अधिक निखरी है।

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने यद्यपि कहानियां ही अधिक लिखी हैं; परन्तु उनके 'माँ' 'भिखारिणी' और 'संघर्ष' उपन्यास हिंदी की अतुल गौरव-निधि हैं। प्रेमचन्द की परिपाटी को आगे बढ़ाने में आपका प्रमुख हाथ था।

श्री प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रवाद की धारा को साकार प्रबल प्रेरणा देकर समाज की विशृंखलताओं को दूर करने में सतत-संलग्न श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' हिन्दी में यथार्थवादी उपन्यास-लेखक के रूप में आये। उन्होंने समाज की वर्तमान धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कुरीतियों से अभिभूत जीवन की विषमता से निरपेक्ष रहकर उससे दूर भागने का प्रयास ही नहीं किया, प्रत्युत रूढ़ि-बद्ध जाति-प्रतिष्ठा और उच्च वर्गीयता के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया। उन्होंने अपने 'कंकाल' 'तितली' और 'इरावती' नामक तीनों ही उपन्यासों में नारी और पुरुष को समता और सहकारिता के सूत्र में बांधकर एक संगठित मोर्चा तैयार किया।

श्री चतुरसेन शास्त्री ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक जागरण की प्रेरणा देने के साथ-साथ समाज में भयङ्कर काम-लोलुपता की वृत्ति को भी जगाया। उनके उपन्यासों में हमें कहीं-कहीं जी० पी० श्रीवास्तव-जैसा अभद्र बाजारूपन दृष्टि-गत हुआ। यह सब-कुछ होते हुए भी वस्तु-वर्णन की दृष्टि आपकी बहुत तीखी है। आपके 'हृदय की प्यास' 'अमर-अभिलाषा' और 'वैशाली की नगर-वधू', आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़-कुण्डार', 'कुण्डली चक्र', 'कोतवाल की करामात', तथा 'अचल मेरा कोई' नामक अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी-जगत् में विशेष आदर पाया है। बुन्देलखण्ड की पहाड़ी टेकड़ियों और वहां की रक्त-रंजित भूमि तथा ध्वंसावसिष्ट खण्डहरों की प्रेरणा ही आपके उपन्यासों में मिलती है। वहां के नदी-नाले, झीलें और पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामल खेत ही उनकी साहित्यिक चेतना के मूल स्रोत हैं। वे मुख्यतः ऐतिहासिक संस्कृति के ही संदेश-वाहक हैं। उनका 'झांसी की रानी' नया उपन्यास इस दिशा में एक प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करेगा। 'कभी न कभी' द्वारा आपने भारतीय मजदूरों के जीवन की एक झांकी दी है।

उग्र का व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में आच्छादित है। आपकी भाषा में अपूर्व ओज, भावना में तरल प्रभाव और विचारों में अद्भुत उग्रता है। जीवन की सच्ची वृत्तियों और दमन की शृंखला को तोड़कर जीवन के मांसल अनुभव की झांकी हमें उनके उपन्यासों में मिलती है। उनकी 'चन्द हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'घण्टा', तथा 'चुम्बन' आदि पुस्तकें इसी नीति-भेदक और विधि-निषेधक प्रणाली की परिचायक हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार गांधी जी के सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि नियमों के प्रबल समर्थक हैं; परन्तु उनकी यह अध्यात्मवादी भावना उनके उपन्यासों में समाविष्ट न हो पाई। उनके 'कल्याणी', 'त्याग-पत्र', और 'सुनीता' नामक तीनों ही उपन्यासों में नारी के प्रति एक विचित्र कामुकतामयी भावना हमें देखने को मिली। 'सुनीता' में नारी को नग्न रूप में दरसाना उनकी मनोभूमि पर आघात पहुंचाता है।

प्रथम चरण के उपन्यासकारों में श्री निराला जी का उल्लेख न करना भारी कृतघ्नता होगी। निराला जी ने वर्तमान युग के नारी-जागरण की कर्कश भावनाओं को छोड़कर विज्ञान-मूलक मनोरम अंशों को ही अपनाया और उसी का परिणाम उनके 'अप्सरा' 'अलका' तथा 'प्रभावती' आदि उपन्यास हैं।

द्वितीय चरण की उज्ज्वलतम विभूति श्री भगवतीचरण वर्मा ने हिंदी-उपन्यासों में एक नई क्रान्ति की। उनके 'चित्र-लेखा' 'पतन' 'तीन वर्ष' व 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' नामक चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। 'पतन' को छोड़कर शेप सभी में एक नवीन कल्पना, वर्णन-शैली एवं जीवन के व्यावहारिक दृष्टिकोण के प्रति महती अनुशोचना हमें दृष्टिगत हुई। 'चित्रलेखा' में सांस्कृतिक चेतना का संदेश देकर लेखक ने पाप और पुण्य की जो परिभाषा की है, वह अद्वितीय है।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'दो बहनें', 'पतिता की साधना', 'पिपासा' तथा 'निमंत्रण' आदि अपने उपन्यासों में जीवन के व्यंग्य को पर्याप्त निर्दयता से चित्रित किया है। सर्वाहारा-वर्ग द्वारा आर्थिक क्षेत्र में जो दुःखांत घटनाएं घटित होती हैं उनका परिपाक वाजपेयी जी के उपन्यासों में भली प्रकार हुआ है।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' 'विकास' और 'बयालीस' नामक तीन उपन्यास हमने देखे हैं। तीनों ही अद्वितीय हैं। सामाजिक रूढ़ियों का उद्घाटन करके समाज का नवनिर्माण करना ही उनकी कला की इयत्ता है।

यशपाल ने हिन्दी-उपन्यास को वस्तुतः संकरीले के मार्ग से निकालकर कला की दृष्टि से एक नई शैली दी है। उन्होंने अपने उपन्यासों में 'गोमांस' और 'साम्यवाद' को सम्मिलित

करने का प्रयत्न किया है। उनके 'दादा कामरेड' 'देशद्रोही' 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' में इसी प्रवृत्ति का परिचय हमें मिलता है। 'दिव्या' में वे इससे भिन्न दिशा की ओर गये हैं; परन्तु वहाँ भी उन्होंने 'रोमांस' की रमणीय रचना की है। निश्चय ही यशपाल आज के औपन्यासिकों में सबसे आगे हैं।

'अज्ञेय' ने 'शेखर: एक जीवनी' के कारण उपन्यास के रूप में एक क्रांतिकारी युवक की जीवनी लिखकर एक अभाव की पूर्ति की है। 'शेखर' में उनका दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। लेखक के अपने ही व्यक्तित्व का विकास 'शेखर' में पूर्ण हुआ है। श्री उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा' नामक उपन्यास भी एक युवक की कहानी है।

श्री सियारामशरण गुप्त ने अभी तक 'गोद' 'नारी' और 'अन्तिम आकांक्षा' तीन उपन्यास लिखे हैं। उन्होंने अपने पहले दो उपन्यासों में जैनेन्द्र की शैली का अनुसरण किया है। जैनेन्द्र की 'नारी' और सियारामशरण की 'नारी' एक-सी है। नारी के प्रति दोनों का दृष्टिकोण विचित्र है।

इलाचंद्र जोशी ने 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' 'सन्यासी' तथा 'घृणामयी' आदि अपने सभी उपन्यासों में जीवन का यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना आपको पसंद नहीं। 'फ्रायड' के मनोविश्लेषण को सत्य मानकर मानव-मन में पड़ी हुई ग्रन्थि को सुलझाकर स्वस्थ अभिव्यक्ति देना ही आपके उपन्यासों का एक-मात्र उद्देश्य है।

तृतीय चरण के लेखकों में श्री राहुल सांकृत्यायन सर्व-

आगे आते हैं। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि इस चरण के लेखकों ने समाजवाद को पुण्य आदर्श मानकर ऐतिहासिक क्षेत्र में प्रवेश किया है। उनके इतिहास-ज्ञान के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं कर सकता। ऐतिहासिक सामग्री को अपनी कल्पना द्वारा नये लिबास में उपस्थित कर देना उनकी विशेषता है। उनके 'सोने की ढाल' 'जादू का मुल्क' 'सिंह सेनापति' तथा 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' आदि उपन्यासों में यही भावना दृष्टिगत होती है। अभी 'जय यौधेय' उनका नया उपन्यास निकला है। यह भी ऐतिहासिक है। उनके सभी उपन्यासों में हम जिन्दादिलों, शोषितों, प्रेमातुरों, और प्रेम-तृप्तों की दुनिया के दर्शन करते हैं। शोषण और हरण की सामाजिक अव्यवस्था के प्रति भयंकर प्रताड़ना आपका प्रमुख लक्ष्य है।

श्री सर्वदानन्द वर्मा 'नरमेध' 'प्रश्न' 'अनिकेतन' और 'निकट की दूरी' के पात्रों को काफी संघर्ष में डालते हैं। सामाजिक विषमता से आहत व्यक्ति के दुख-दर्दों को दूर करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य है। कहीं-कहीं उन्होंने वासना और प्रेम की नग्न परिणति दी है, जो साहित्य के लिए घातक है।

पहाड़ी के उपन्यासों में पुरुष की काम, प्रेम, वासना, आकर्षण आदि यौन प्रवृत्तियों की विभिन्न दिशाओं का दर्शन हमें मिलता है। उनके उपन्यास अधिकतः वैज्ञानिक सामाजिकता को लिये हुए हैं। उनके 'सराय' आदि उपन्यासों में यही स्थिति है। उनमें 'यथार्थवादी रोमान्स' के कुछ चित्र हैं।

इसी कोटि में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आते हैं। उनके 'सितारों के खेल' 'गिरती दीवारें' में नारी-चरित्रों का अच्छा अध्ययन है। यथार्थ और आदर्श के संघर्ष को अश्क ने पैनी दृष्टि से उद्भासित किया है।

करने का प्रयत्न किया है। उनके 'दादा कामरेड' 'देशद्रोही' 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' में इसी प्रवृत्ति का परिचय हमें मिलता है। 'दिव्या' में वे इससे भिन्न दिशा की ओर गये हैं; परन्तु वहाँ भी उन्होंने 'रोमांस' की रमणीय रचना की है। निश्चय ही यशपाल आज के औपन्यासिकों में सबसे आगे हैं।

'अज्ञेय' ने 'शेखर: एक जीवनी' के कारण उपन्यास के रूप में एक क्रांतिकारी युवक की जीवनी लिखकर एक अभाव की पूर्ति की है। 'शेखर' में उनका दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। लेखक के अपने ही व्यक्तित्व का विकास 'शेखर' में पूर्ण हुआ है। श्री उदयशंकर भट्ट का 'वह जो मैंने देखा' नामक उपन्यास भी एक युवक की कहानी है।

श्री सियारामशरण गुप्त ने अभी तक 'गोद' 'नारी' और 'अन्तिम आकांक्षा' तीन उपन्यास लिखे हैं। उन्होंने अपने पहले दो उपन्यासों में जैनेन्द्र की शैली का अनुसरण किया है। जैनेन्द्र की 'नारी' और सियारामशरण की 'नारी' एक-सी है। नारी के प्रति दोनों का दृष्टिकोण विचित्र है।

इलाचंद्र जोशी ने 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' 'सन्यासी' तथा 'घृणामयी' आदि अपने सभी उपन्यासों में जीवन का यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बनाकर ही छोड़ देना आपको पसंद नहीं। 'फ्रायड' के मनोविश्लेषण को सत्य मानकर मानव-मन में पड़ी हुई ग्रन्थि को सुलझाकर स्वस्थ अभिव्यक्ति देना ही आपके उपन्यासों का एक-मात्र उद्देश्य है।

तृतीय चरण के लेखकों में श्री राहुल सांकृत्यायन सबसे

आगे आते हैं। जैसा कि हम पहले लिख चुके है कि इस चरण के लेखकों ने समाजवाद को पुण्य आदर्श मानकर ऐतिहासिक क्षेत्र में प्रवेश किया है। उनके इतिहास-ज्ञान के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं कर सकता। ऐतिहासिक सामग्री को अपनी कल्पना द्वारा नये लिवास में उपस्थित कर देना उनकी विशेषता है। उनके 'सोने की ढाल' 'जादू का मुल्क' 'सिंह सेनापति' तथा 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' आदि उपन्यासों में यही भावना दृष्टिगत होती हैं। अभी 'जय यौधेय' उनका नया उपन्यास निकला है। यह भी ऐतिहासिक है। उनके सभी उपन्यासों में हम जिन्दादिलों, शोषितों, प्रेमातुरों, और प्रेम-तृप्तों की दुनिया के दर्शन करते हैं। शोषण और हरण की सामाजिक अव्यवस्था के प्रति भयंकर प्रताड़ना आपका प्रमुख लक्ष्य है।

श्री सर्वदानन्द वर्मा 'नरमेध' 'प्रश्न' 'अनिकेतन' और 'निकट की दूरी' के पात्रों को काफी संघर्ष में डालते हैं। सामाजिक विषमता से आहत व्यक्ति के दुख-दर्दों को दूर करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य है। कहीं-कहीं उन्होंने वासना और प्रेम की नग्न परिणति दी है, जो साहित्य के लिए घातक है।

पहाड़ी के उपन्यासों में पुरुष की काम, प्रेम, वासना, आकर्षण आदि यौन प्रवृत्तियों की विभिन्न दिशाओं का दर्शन हमें मिलता है। उनके उपन्यास अधिकतः वैज्ञानिक सामाजिकता को लिये हुए हैं। उनके 'सराय' आदि उपन्यासों में यही स्थिति है। उनमें 'यथार्थवादी रोमान्स' के कुछ चित्र हैं।

इसी कोटि में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आते हैं। उनके 'सितारों के खेल' 'गिरती दीवारें' में नारी-चरित्रों का अच्छा अध्ययन है। यथार्थ और आदर्श के संघर्ष को अश्क ने पैनी दृष्टि से उद्भासित किया है।

श्री कृष्णदास 'अग्नि-पथ' और 'क्रांति-दूत' द्वारा साम्यवादी विचारों का प्रचार करते हुए हिन्दी-जगत् के सामने आये हैं। तीसरा उपन्यास 'जुलेखा' ऐतिहासिक है। 'अग्नि-पथ' में मजदूर-जीवन को पृष्ठभूमि बनाकर 'रोमांस' और 'राजनीति' को अनैसर्गिक रूप से मिलाने का विफल प्रयास उन्होंने किया है। 'क्रांति-दूत' १९४२ के जन-आन्दोलन पर लिखा गया है। राजनीतिक क्षेत्र में देश की विपन्नावस्था के प्रति उनके हृदय में वेदना अवश्य है। 'अग्नि-पथ' की अपेक्षा वे इसमें अधिक सफल हुए हैं।

अंचल 'चढ़ती धूप' और 'नई इमारत' द्वारा हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में आये हैं। 'चढ़ती धूप' उनका पहला और साम्यवादी परम्परा का उपन्यास है। उपन्यास के नायक का मजदूरों में जाकर रहना और वहां के जीवन का अनुभव करना उपन्यास को यथार्थता की पृष्ठभूमि पर खड़ा करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसमें कई भूलें हुई हैं, फिर भी अंचल का इस क्षेत्र में आना मंगल-सूचक है। रांगेय राघव का 'घरौंदे' नये लेखकों के लिए विस्मय की चीज है। उनकी प्रगति निश्चय ही प्रशंसनीय है। रामचन्द्र तिवारी का 'सागर सरिता और अकाल' तथा 'नवजीवन' भी उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

श्री मोहनलाल महतो के इधर एकाकी, विसर्जन, शेषदान, और करार आदि उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। महतो जी ने कविता की भांति इस दिशा में भी पर्याप्त सफलता पाई है। बंगाल के प्रसिद्ध औपन्यासिक शरत् की छाप आपके उपन्यासों में हमें देखने को मिली।

श्री गुरुदत्तजी एक नवीन किन्तु सबल प्रेरणा लेकर हिन्दी में आए हैं। उनके 'स्वाधीनता के पथ पर' 'पथिक'

'उन्मुक्त प्रेम' तथा 'विकृत-छाया' आदि चारउपन्यास अभीतक प्रकाशित हो चुके हैं। प्रेमचंद की राष्ट्रीय चेतना की परिपाटी को लेकर आप आगे बढ़े हैं। आपके पहले तीन उपन्यास राजनीतिक और चौथा सामाजिक है। सभी उपन्यासों में विचार देने की बजाय उन्होंने घटनाओं के क्रम-विकास द्वारा अपना अभीष्ट समझाने का प्रयत्न किया है और इसमें उनको पर्याप्त सफलता भी मिली है। 'स्वाधीनता के पथ पर' उनका पहला उपन्यास होते हुए भी प्रेरणा की दृष्टि से अत्युत्तम है।

महिला-लेखिकाओं में श्रीमती उषादेवी मित्रा और कुमारी कंचनलता सब्बरवाल का नाम आता है। श्रीमती मित्रा बहुत दिनों से लिख रही हैं और कुमारी कंचन ने अभी दो-तीन वर्ष से ही इस क्षेत्र में प्रवेश किया है। श्रीमती मित्रा ने 'वचन का मोल' 'पिया' 'मुस्कान' तथा 'आवाज' नामक अपने उपन्यासों में आधुनिक नारी का पक्ष सबल तर्कों से समाज के समक्ष रखा है। कला की दृष्टि से उनका प्रथम उपन्यास 'वचन का मोल' उत्कृष्ट कहा जा सकता है।

कुमारी कंचन के 'मूक प्रश्न' 'भोली भूल' और 'संकल्प' तीन उपन्यास प्रकाश में आ चुके हैं। तीनों ही में उन्होंने भारतीय नारी के स्वरूप का दिग्दर्शन भली-भाँति कराया है। प्राच्य संस्कृति के प्रति प्रेम उनके तीनों उपन्यासों में दृष्टिगत होता है, जो भारतीय नारी के लिए उपेक्षणीय नहीं।

संक्षेप में हिंदी का उपन्यास-साहित्य प्रगति पथ पर अग्रसर है। इस समय इसमें जो-जो 'नये प्रयोग' हो रहे हैं वे विकास के ही सूचक हैं। हमारी सामाजिक धारणाओं पर जो अज्ञान का आँचल फैल रहा है, उसके निराकरण के

लिए हमें नई दिशा, नया मार्ग अपने साहित्य में बनाना पड़ेगा। यह निर्विवाद है कि आज की जनता की मानसिक भूख को मिटाने का प्रबलतम साधन एक-मात्र उपन्यास है उपन्यास-लेखकों की सफलता तभी है, जब कि वे समाज की वर्तमान मानसिक भूख को समझें और उसके शमन के लिए सरल, श्रेयस्कर और स्वस्थ साहित्य दें। इस समय समाज में सस्ते रोमांस पर आश्रित जासूसी किस्म के लम्बे-लम्बे उपन्यासों की आवश्यकता नहीं। अब तो समाज की वर्तमान विभीषिकाओं पर चुभते हुए व्यंग्य करने वाले, जीवन को निर्वाण की ओर से हटाकर निर्माण की सुगम सरणी पर अग्रसर करने वाले उपन्यासों की आवश्यकता है। काश; हमारे कलाकार युग को समझें; युग की माँग को समझें।



: १४ :
कहानी

कथा-साहित्य का प्रारम्भ उतना ही पुरातन और सनातन है, जितना कि इस संसार में मानव का प्रारम्भ। पाषाण-युग का मानव भी दिन-भर वन-प्रांतों में भटकता, उलझता और पेट भरने के साधन जुटाकर, संध्या समय जहां कहीं अपने अन्य सहवर्गियों से मिलता था, वहीं दिन-भर की आपबीती घटनाओं और कठिनाइयों की बातें उन्हें सुनाता. उनकी आपबीती

सुनता और पारस्परिक संवेदना एवं सहानुभूति प्राप्त कर आन्तरिक संतोष का अनुभव करता था। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मानव ने जब से वाणी (बोलने और मनोगत विचारों को प्रकट करने की क्षमता) प्राप्त की, तब ही से कहानी कहने-सुनने की परम्परा चली। रहस्य के अवगुण्ठन को हटा देने की प्रवृत्ति मानव में प्रारम्भ से ही नैसर्गिक रूप में विद्यमान है। इसलिए गम्भीर-से-गम्भीर विषय को सरल एवं बोधगम्य बनाने के लिए 'कहानियों' का आश्रय लिया जाने लगा। ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में कथा-कहानी के द्वारा असीम ज्ञान का प्रचार किया गया।

साहित्य का जन्म संगीत-स्वर के साथ हुआ। प्रारम्भ में मानव की वाणी जब प्रस्फुटित हुई, तब वह केवल स्वरों का प्रयोग कर सकता था। यही स्वर प्रकारान्तर में संगीत बनकर कविता का रूप ले बैठे, और यही कारण है कि सृष्टि के आदिम साहित्य वेदों की रचना भी कविता में हुई। परन्तु इन काव्यों में भी कहानियां हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

ग्राम-गीत भी बड़े पुरातन और सनातन हैं, वेदों के पश्चात् ग्राम-गीतों का ही स्थान आता है। ग्राम-गीतों में मानव-जीवन और संसार का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण पाया जाता है। धीरे-धीरे ग्राम-गीतों का स्थान कलात्मक गीतों ने ले लिया और कलात्मक गीतों में जीवन का सौन्दर्य अधिकाधिक समाहित होता गया; परन्तु जीवन-तत्वों और स्वाभाविकता से ये गीत-दूर छिटकते गए। कदाचित् इसीलिए जीवन की स्वाभाविकता का जहाँ तक सम्बन्ध है, कहानियों ने इन

गीतों का स्थान ले लिया और आज हम देखते हैं कि गद्य-युग में ही हमारा हिन्दी-साहित्य विकसित हो रहा है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि आज का हिंदी-साहित्य वस्तुतः कहानी-युग में सज-संवर रहा है ।

कहानी-साहित्य का प्राचीन रूप जातक-कथाओं, पंचतन्त्र, हितोपदेश तथा कथासरित्सागर आदि में भी मिलता है। किन्तु आधुनिक कहानी एवं इन आख्यानों में भारी अन्तर है। सूफी प्रेम-कथाएं और वैष्णव वार्ताएं भी प्राचीन ढंग की ही कथाएं हैं। वास्तव में हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी सैयद इन्शाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' है। इसका रचना-काल सन् १८०३ माना जाता है। इसकी मौलिकता तथा सौंदर्य ने लोगों की रुचि को कहानी की ओर आकृष्ट किया। इस कथा का आधार एक राजकुमार और एक राजकुमारी का प्रणय-बंधन है। इनका कहानी लिखने का ढंग चित्ताकर्षक एवं मनोहारी है। यद्यपि उनकी इस कहानी में अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं तथापि उर्दू मुहावरों का प्रयोग भी इसमें स्वच्छंदता पूर्वक किया गया है। इसी प्रकार मुन्शी सदासुखलाल ने भी एक कहानी की रचना की; परंतु उनका यह प्रयत्न विफल रहा।

'रानी केतकी की कहानी' के बाद हिन्दी की दूसरी मौलिक कहानी राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की 'राजा भोज का सपना' नामक कहानी है। इन दोनों की भाषा में खड़ी बोली का पुट है, दोनों में मनोरंजन की समुचित सामग्री है और दोनों ही में आकस्मिक घटनाओं का समुचित समावेश है। कहानी का सबसे विशिष्ट गुण मनोरंजक तत्व इन दोनों कहानियों में पाया जाता है। इन्हीं कहानियों से वास्तव में हिन्दी के कहानी-साहित्य आरम्भ होता है।

इसके पश्चात् हिन्दी में अनूदित कहानियों का क्रम प्रारम्भ हुआ। सन् १८५० में जब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य-क्षेत्र में क्रांति का जय-घोष किया तब कथा-साहित्य उन्नति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हुआ। भारतेन्दु-युग से कहानी-कला का विकास धीरे-धीरे होना प्रारम्भ हुआ। चारों ओर प्रगति की लहर दौड़ी, वर्षा हुई और नवजीवन के अंकुर उगे। मलयानिल का सुरभित झोंका आया और सहस्रों कुसुम-दल खिल गए। साहित्याकाश में भारतेन्दु के साथ अनेकों उज्ज्वल नक्षत्र जगमगा उठे। उस समय पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी, ला० पार्वतीनन्दन और श्रीमती बंग-महिला ने अनेक उत्तमोत्तम कहानियाँ लिखीं। उन्हीं दिनों देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की कि आज तक भी उसकी माँग चली आती है। यद्यपि किशोरीलाल गोस्वामी ने वासना-मूलक अनेक उपन्यास लिखे; किन्तु लोक-रुचि ने उनका स्वागत नहीं किया। उन्हीं दिनों श्री गोपालराम 'गहमरी' ने 'जासूस' नामक अपने पत्र द्वारा हिंदी-कथा-साहित्य को एक नई गति दी और उसमें बंगला से अनूदित अनेक कहानियों का हिंदी-पाठकों को आस्वादन कराया। इस प्रकार छोटी कहानियाँ, गल्प अथवा आख्यायिकाएं हिंदी में 'जासूस' के द्वारा ही आईं।

जिस क्षेत्र को उक्त महारथियों ने अपने परिश्रम से उर्वर बनाया था, उसे 'सरस्वती' के प्रकाशन से और भी प्रश्रय मिला। 'सरस्वती' के द्वारा सिंचित क्षेत्र को ही आज हम पत्र-पुष्प-समन्वित देख रहे हैं। लाला पार्वतीनन्दन के नाम से इंडियन प्रेस के तत्कालीन मैनेजर बाबू गिरिजाकुमार घोष ने अनेक बंगला एवं अंग्रेजी कहानियों का अनुवाद 'सरस्वती'

गीतों का स्थान ले लिया और आज हम देखते हैं कि गद्य-युग में ही हमारा हिन्दी-साहित्य विकसित हो रहा है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि आज का हिंदी-साहित्य वस्तुतः कहानी-युग में सज-संवर रहा है ।

कहानी-साहित्य का प्राचीन रूप जातक-कथाओं, पंचतन्त्र, हितोपदेश तथा कथासरित्सागर आदि में भी मिलता है। किन्तु आधुनिक कहानी एवं इन आख्यानों में भारी अन्तर है। सूफी प्रेम-कथाएं और वैष्णव वार्ताएं भी प्राचीन ढंग की ही कथाएं हैं। वास्तव में हिंदी की प्रथम मौलिक कहानी सैयद इन्शाअल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' है। इसका रचना-काल सन् १८०३ माना जाता है। इसकी मौलिकता तथा सौंदर्य ने लोगों की रुचि को कहानी की ओर आकृष्ट किया। इस कथा का आधार एक राजकुमार और एक राजकुमारी का प्रणय-बंधन है। इनका कहानी लिखने का ढंग चित्ताकर्षक एवं मनोहारी है। यद्यपि उनकी इस कहानी में अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं तथापि उर्दू मुहावरों का प्रयोग भी इसमें स्वच्छंदता पूर्वक किया गया है। इसी प्रकार मुन्शी सदासुखलाल ने भी एक कहानी की रचना की; परंतु उनका यह प्रयत्न विफल रहा।

'रानी केतकी की कहानी' के बाद हिन्दी की दूसरी मौलिक कहानी राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की 'राजा भोज का सपना' नामक कहानी है। इन दोनों की भाषा में खड़ी बोली का पुट है, दोनों में मनोरंजन की समुचित सामग्री है और दोनों ही में आकस्मिक घटनाओं का समुचित समावेश है। कहानी का सबसे विशिष्ट गुण मनोरंजक तत्व इन दोनों कहानियों में पाया जाता है। इन्हीं कहानियों से वास्तव में हिन्दी में कहानी-साहित्य आरम्भ होता है।

इसके पश्चात् हिन्दी में अनूदित कहानियों का क्रम प्रारम्भ हुआ। सन् १८५० में जब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य-क्षेत्र में क्रांति का जय-घोष किया तब कथा-साहित्य उन्नति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हुआ। भारतेन्दु-युग से कहानी-कला का विकास धीरे-धीरे होना प्रारम्भ हुआ। चारों ओर प्रगति की लहर दौड़ी, वर्षा हुई और नवजीवन के अंकुर उगे। मलयानिल का सुरभित झोंका आया और सहस्रों कुसुम-दल खिल गए। साहित्याकाश में भारतेन्दु के साथ अनेकों उज्ज्वल नक्षत्र जगमगा उठे। उस समय पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी, ला० पार्वतीनन्दन और श्रीमती बंग-महिला ने अनेक उत्तमोत्तम कहानियाँ लिखीं। उन्हीं दिनों देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की कि आज तक भी उसकी माँग चली आती है। यद्यपि किशोरीलाल गोस्वामी ने वासना-मूलक अनेक उपन्यास लिखे; किन्तु लोक-रुचि ने उनका स्वागत नहीं किया। उन्हीं दिनों श्री गोपालराम 'गहमरी' ने 'जासूस' नामक अपने पत्र द्वारा हिंदी-कथा-साहित्य को एक नई गति दी और उसमें बंगला से अनूदित अनेक कहानियों का हिंदी-पाठकों को आस्वादन कराया। इस प्रकार छोटी कहानियाँ, गल्प अथवा आख्यायिकाएं हिंदी में 'जासूस' के द्वारा ही आईं।

जिस क्षेत्र को उक्त महारथियों ने अपने परिश्रम से उर्वर बनाया था, उसे 'सरस्वती' के प्रकाशन से और भी प्रश्रय मिला। 'सरस्वती' के द्वारा सिंचित क्षेत्र को ही आज हम पत्र-पुष्प-समन्वित देख रहे हैं। लाला पार्वतीनन्दन के नाम से इंडियन प्रेस के तत्कालीन मैनेजर बाबू गिरिजाकुमार घोष ने अनेक बंगला एवं अंग्रेजी कहानियों का अनुवाद 'सरस्वती'

द्वारा प्रस्तुत किया। 'सरस्वती' के तत्कालीन सम्पादक आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी से हिंदी-साहित्य को पर्याप्त गति, चेतना एवं जागृति मिली। यही नहीं, उन्होंने अनेकों संस्कृत-आख्यायिकाओं को हिंदी का रूप देकर हिंदी-प्रेमी जनता में कहानी के प्रति प्रेम भी जागृत किया।

वर्तमान युग की मौलिक कहानियों का विकास सन् १९०९ में काशी से प्रकाशित 'इन्दु' नामक मासिक पत्र से प्रारम्भ हुआ। इसका सम्पादन श्री जयशंकर 'प्रसाद' करते थे। प्रसाद जी की निर्मायिका प्रतिभा उनके भीतर कुलमुला रही थी, और इसी को मूर्त रूप देने के विचार से उन्होंने 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' इसी में प्रकाशित हुई थी। सन् १९११ में प्रसाद जी ने 'इन्दु' नामक एक मौलिक कहानी लिखी। पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेशी' भी 'इन्दु' में ही छपी थी। सन् १९१३ में 'शंकर' नामक पत्र में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने लिखना प्रारम्भ किया था। राजा राधिकारमणप्रसादसिंह और श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी कतिपय कहानियाँ लिखीं। राजा साहब की 'कानों में कंगना' और श्री कौशिक जी की 'रक्षा-बन्धन' नामक कहानी सन् १९१३ की उत्कृष्ट कहानियों में गिनी जाती हैं। १९१४ से श्री पं० ज्वालादत्त शर्मा 'सरस्वती' में कहानियां लिखने लगे। सन् १९१५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी में अपनी शैली की बेजोड़ रचना है। यथार्थ चित्रण और कौतूहल की दृष्टि से यह हिन्दी की उच्च कोटि की कहानियों में गिनी जाती है।

इसी समय उपन्यास-सम्राट श्री प्रेमचन्द जी ने

आलोकमयी मधुरिमा लेकर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। जन-जीवन केकल-कूजन में नवजीवन के गीत मुखरित हो उठे। प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी-पाठकों ने पहली बार किसी नई चीज के आने का अनुभव किया। प्रेमचन्द एक युग-प्रवर्त्तक के रूप में हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में अवतरित हुए; वे कल्पना-जगत् से यथार्थ-भूमि में आये। उन्होंने कथा-साहित्य को एक चंचल-चपल बालिका से एक गुरु-गम्भीर लजवन्ती वधू का रूप दिया। इनकी कहानियाँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि उनका अनुवाद देशी भाषाओं में ही नहीं, प्रत्युत विश्व की सभी समृद्ध भाषाओं में भी हुआ। उर्दू के लेखक होने के कारण जैसी चलती हुई, प्रवाहयुक्त, सरल, मुहावरेदार एवं आकर्षक भाषा का प्रयोग श्री प्रेमचन्द जी कर सके वह अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रामीणों के जीवन का चित्र खींचने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। 'बड़े घर की बेटी' 'शतरंज के खिलाड़ी' 'ईदगाह' और 'दिल की रानी' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द जी के उपरान्त सर्व श्री प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, कौशिक, रायकृष्णदास, उग्र, सुदर्शन आदि अनेक कृती-कलाकारों ने हिन्दी के कहानी-साहित्य को भरपूर किया। प्रसाद ने कवि-कल्पना-सी सुन्दर रसीली प्रवाह-युक्त भाषा के द्वारा नर-नारियों के अन्तस्तल की जिन मार्मिक भावनाओं का प्रकाशन किया वह मानस-पटल पर एक मधुर स्मृति के समान अंकित हो जाती हैं। चतुरसेन शास्त्री की कहानियों ने मुख्यतः उनकी भाषा के गठन और तड़क-भड़क के कारण सफलता पाई है। इनकी कहानियों का प्रत्येक भाग एक रंगीन छलकता हुआ जाम है। इनके वैभव-विलास और यौवन-मद के चित्र अद्वितीय हैं। इनकी कहानियों का आधार भारत के अतीत

द्वारा प्रस्तुत किया। 'सरस्वती' के तत्कालीन सम्पादक आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी से हिंदी-साहित्य को पर्याप्त गति, चेतना एवं जागृति मिली। यही नहीं, उन्होंने अनेकों संस्कृत-आख्यायिकाओं को हिंदी का रूप देकर हिंदी-प्रेमी जनता में कहानी के प्रति प्रेम भी जागृत किया।

वर्तमान युग की मौलिक कहानियों का विकास सन् १९०९ में काशी से प्रकाशित 'इन्दु' नामक मासिक पत्र से प्रारम्भ हुआ। इसका सम्पादन श्री जयशंकर 'प्रसाद' करते थे। प्रसाद जी की निर्मायिका प्रतिभा उनके भीतर कुलबुला रही थी, और उसी को मूर्त रूप देने के विचार से उन्होंने 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' इसी में प्रकाशित हुई थी। सन् १९११ में प्रसाद जी ने 'इन्दु' नामक एक मौलिक कहानी लिखी। पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेशी' भी 'इन्दु' में ही छपी थी। सन् १९१३ में 'शंकर' नामक पत्र में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने लिखना प्रारम्भ किया था। राजा राधिकारमणप्रसादसिंह और श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी कतिपय कहानियाँ लिखीं। राजा साहब की 'कानों में कंगना' और श्री कौशिक जी की 'रक्षा-बन्धन' नामक कहानी सन् १९१३ की उत्कृष्ट कहानियों में गिनी जाती हैं। १९१४ से ही पं० ज्वालादत्त शर्मा 'सरस्वती' में कहानियां लिखने लगे। सन् १९१५ में 'सरस्वती' में प्रकाशित श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी में अपनी शैली की बेजोड़ रचना है। यथार्थ चित्रण और कौशल की दृष्टि से यह हिन्दी की उत्तम कोटि की कहानियों में गिनी जाती है।

आलोकमयी मधुरिमा लेकर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। जन-जीवन केकल-कूजन में नवजीवन के गीत मुखरित हो उठे। प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी-पाठकों ने पहली बार किसी नई चीज के आने का अनुभव किया। प्रेमचन्द एक युग-प्रवर्त्तक के रूप में हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में अवतरित हुए; वे कल्पना-जगत् से यथार्थ-भूमि में आये। उन्होंने कथा-साहित्य को एक चंचल-चपल बालिका से एक गुरु-गम्भीर लजवन्ती वधू का रूप दिया। इनकी कहानियाँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि उनका अनुवाद देशी भाषाओं में ही नहीं, प्रत्युत विश्व की सभी समृद्ध भाषाओं में भी हुआ। उर्दू के लेखक होने के कारण जैसी चलती हुई, प्रवाहयुक्त, सरल, मुहावरेदार एवं आकर्षक भाषा का प्रयोग श्री प्रेमचन्द जी कर सके वह अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रामीणों के जीवन का चित्र खींचने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। 'बड़े घर की बेटी' 'शतरंज के खिलाड़ी' 'ईदगाह' और 'दिल की रानी' आदि उनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द जी के उपरान्त सर्व श्री प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री, कौशिक, रायकृष्णदास, उग्र, सुदर्शन आदि अनेक कृती-कलाकारों ने हिन्दी के कहानी-साहित्य को भरपूर किया। प्रसाद ने कवि-कल्पना-सी सुन्दर रसीली प्रवाह-युक्त भाषा के द्वारा नर-नारियों के अन्तस्तल की जिन मार्मिक भावनाओं का प्रकाशन किया वह मानस-पटल पर एक मधुर स्मृति के समान अंकित हो जाती हैं। चतुरसेन शास्त्री की कहानियों ने मुख्यतः उनकी भाषा के गठन और तड़क-भड़क के कारण सफलता पाई है। इनकी कहानियों का प्रत्येक भाग एक रंगीन छलकता हुआ जाम है। इनके वैभव-विलास और यौवन-मद के चित्र अद्वितीय हैं। इनकी कहानियों का आधार भारत के अतीत

गौरवमय इतिहास है। कौशिक जी की पहली कहानी 'रक्षा-बन्धन' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनकी कहानियों में पारिवारिक एवं कौटुम्बिक चित्र इतस्ततः मिलते हैं। स्वाभाविकता इनकी कहानियों की विशेषता है।

राय कृष्णदास की पहली कहानी 'गहूला' सन् १९१७ में प्रकाशित हुई थी। इन्होंने ऐतिहासिक एवं सामाजिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। सन् १९२२ में हिन्दी में एक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति आई। उस प्रवृत्ति के उन्नायक का नाम है उग्र। उग्र की भाषा में तूफानों का वेग है, ज्वालामुखी के लावा का ताप है और भूकम्पों की हलचल-जैसी अशान्ति है। उग्र जी की इसी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति ने उन्हें अधिक आगे नहीं बढ़ने दिया और थोड़े समय बाद ही उनकी प्रवृत्ति मन्द पड़ गई। सन् १९२० में सुदर्शन जी की पहली कहानी हिन्दी में प्रकाशित हुई। इनकी कहानियों में भारतीय संस्कृति के गौरव की झांकी मिलती है। उर्दू-लेखक होने के कारण इनकी कहानियों में वही माधुर्य है, जिसके लिए प्रेमचन्द जी प्रख्यात हैं। चरित्र-चित्रण भी सुदर्शन जी की कहानियों की निजी विशेषता है।

प्रसाद जी तथा उनके परवर्ती, अनुवर्ती साहित्यकारों ने हिन्दी को एक नई शैली दी। इस बीच संसार बड़ी-बड़ी राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक क्रान्तियों के बीच से गुजर चुका था और इसका प्रभाव भारत के साहित्यिकों पर भी पड़ना अनिवार्य था। सन् १९२७-२८ में नये कहानीकार नवीन भावना को लेकर हमारे बीच आये। इन कहानीकारों में सर्वश्री जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, विनोदशंकर व्यास, पहाड़ी, अश्क आदि उल्लेखनीय हैं।

जैनेन्द्र ने 'परख' की सृष्टि करके हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। इनकी कहानियों के पात्रों में वैज्ञानिक विश्लेषण की प्रचुरता मिलेगी। जीवन-दर्शन में उन्होंने नारी की एक नवीन स्वरूप की उद्भावना की है, 'सेक्स' का एक नया पहलू हमारे सामने रखा है। इनकी 'निर्मम' और 'अपना-अपना भाग्य' कहानियाँ अत्युत्तम हैं। श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने पिछले दिनों अनेक रचनाएं कीं। वे आदर्श और यथार्थ की सन्धि-रेखा पर खड़े हुए कथा-साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में एक प्रकार की उच्छृं-खलता पाई जाती है; किन्तु उन कहानियों का अन्तस्तल कुछ और ही है। उसमें समाज के प्रति विद्रोह है और इसके विपरीत उनमें आस्तिकता, भौतिकता एवं आदर्शवाद का सन्देश निहित है। महतो की कहानियों में भी सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह है।

इनके अतिरिक्त सर्व श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, विनोदशंकर व्यास, सियारामशरण गुप्त, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय, अमृतराय, सेंगर आदि अनेक कहानीकार अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। इनकी कहानियाँ उन्नत-से-उन्नत भाषा के साहित्य में प्रमुख स्थान पाने की अधिकारिणी हैं।

इसी भाँति हास्य-रस के कई कहानी-लेखक भी इस काल में आगे आये। उनमें सर्वश्री अन्नपूर्णानन्द, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, राधाकृष्ण, हरिशंकर शर्मा, अमृतलाल नागर, रघुकुल तिलक और जयनाथ 'नलिन' के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके हास्य में प्रायः शिष्टता का अभाव नहीं रहता।

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी तथा श्रीराम शर्मा की कहानियां अपनी अलग ही विशेषता रखती हैं। बेनीपुरी के स्केच हैं और शर्मा जी के शिकार-संस्मरण। चित्रण की दृष्टि से दोनों की शैली टकसाली और भाषा मुहावरेदार है।

सन्तोष की बात है कि हिन्दी-कहानी-क्षेत्र में कुछ महिलाओं ने भी प्रशंसनीय योग-दान दिया है। सर्वश्री स्व० सुभद्राकुमारी चौहान, श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, श्रीमती चन्द्रकिरण सोनरेक्सा, तेजरानी दीक्षित, होमवती, कमलादेवी चौधरी, सुमित्रा कुमारी सिनहा, चन्द्रवती ऋषभसेन जैन और सुशीला आगा की सेवाएं नहीं भुलाई जा सकतीं। उक्त सभी बहनों की कहानियां हिन्दी के कहानी-साहित्य में अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।



: १५ :

नाटक

जीव आनन्दान्वेषी है; क्योंकि वह ब्रह्म का प्रतीक है। ब्रह्म में आनन्द सदा व्यापी है, हृदय तो उसमें उसे साक्षात्कार किया करते हैं। जब जीव लालसाओं में लीन हो जाता है तो उसमें भी वह अधिक सौंदर्य की खोज करता है और हृदय [illegible] में [illegible] [illegible] अधिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है.

क्योंकि उनमें अभिनय होता है। नृत्त और नृत्य का भी समावेश होता है। अतः इस रूप-रेखा को वह और भी विचित्र बना लेता है। वाद्य-सामग्री का भी दृश्य (नाटक) काव्य में समावेश होता है। इन सब वैचित्र्यों से ही 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा गया है। नाटक को भी नाटककार अनुकूल और प्रगीतात्मक रूप से रचता है, जिससे उभय पक्ष में ही आनंद का स्रोत बहता है।

प्रत्येक पदार्थ की अभिव्यक्ति ऐतिहासिकता के रूप में होती है। प्रत्येक वस्तु अनुकरणीय है। बच्चा अपने बड़ों का और बच्ची गुड़िया-गुड्डों का खेल करके भावी गृहस्थ-जीवन का आनंद लेते हैं। आत्मा का स्वभाव विस्तारोन्मुखी होने का दावा रखता है, यही प्राकृतिक दृश्य नाटक की भूमिका का स्पष्टीकरण करते हैं।

भारत में नाटक के उदय के सम्बन्ध में कई मत हैं। कोई देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने नाट्य-देव को पांचवें वेद के रूप में बनाया कहते हैं। इसके लिए ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लिया मानते हैं। इसमें पार्वती ने लास्य और शंकर ने ताण्डव का दान दिया, यह नाटक भरत मुनि के सौ पुत्रों ने किया।

नाटक के उदय में दो मत और हैं—एक धार्मिक कृत्यों से और दूसरा लौकिक, सामाजिक कृत्यों से। यूरोप के मैक्स-मूलर लेवी, डा० हर्लैंड आदि विद्वानों का मत है कि नाटक का उदय वैदिक ऋचाओं से हुआ। सार रूप से हम यों कह सकते हैं "क्योंकि भारत धर्म-प्रधान देश रहा है, अतः धार्मिक कृत्यों से ही नाटक का उदय हुआ।"

नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने अति सूक्ष्म दृष्टि से नाट्य-

कला का निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण किया था। उन्होंने अर्थ प्रकृति अथवा संधियों तथा प्रवृत्तियों का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कालिदास, हर्ष, शूद्रक, भवभूति, भट्टनारायण, विशाखदत्त, राजशेखर आदि ने ईसा की दशवीं शताब्दी तक नाट्य-शास्त्र के नियमों का सुचारु रूप से निर्वाह किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के उपरांत लिखे गए नाटकों के नियमों में शैथिल्य आने लगा। सम्भवतः नाट्यकारों की स्वतंत्र मनोवृत्ति देखकर ही धनंजय को 'दशरूपक' नामक प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यद्यपि १० वीं तथा १२ वीं शताब्दी के मध्य में हनुमन्नाटक, प्रबोध-चन्द्रोदय, रत्नावली आदि नाटकों की रचना हुई, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उन दिनों नाटकों की रचना और प्रचार में कमी होने लग गई थी। मुसलमानों के आक्रमण के समय राजनीतिक अव्यवस्था के कारण जनता का ध्यान खेल-तमाशों की ओर जा ही कैसे सकता था। विजेता मुसलमानों में संगीत तथा नाट्य-कला का नितान्त अभाव था, अतः उनके समय में नाटकों की कोई चर्चा न हो सकी।

प्रत्येक देश का साहित्य किसी-न-किसी दृष्टिकोण से लिखा जाता है। नाटकों की रचना में यह बात स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। हमारे सभी नाटक आनन्दमय होते हैं, और

कि वे नाटक में अपने सामाजिक जीवन का सच्चा रूप देखना चाहते हैं और जीवन सुखमय एवं दुःखमय दोनों रूप में है, अतः सुखान्त, दुःखान्त--ये दो विधा और हो जाती हैं। किन्तु भारतीय यह जानना चाहते हैं कि जीवन का आदर्श क्या है? जनता नाटक देखकर आनन्द और उसके साथ शिक्षा ग्रहण करके जीवन के आदर्श की महत्ता समझना चाहती है।

हिन्दी में भारतेन्दु-युग के साथ ही नाटकों का प्रादुर्भाव होता है। वैसे इससे पूर्व भी 'शकुन्तला' 'हनुमन्नाटक' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि नाटक लिखे गए; किन्तु नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते। हिन्दी का सर्व प्रथम नाटक 'नहुष' भारतेन्दु जी के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने लिखा था। भारतेन्दु बाबू तो इस युग की नाट्य-कला के संस्थापक ही माने गए हैं।

भारतेन्दु के समय में अंग्रेजी राज्य का पूर्ण आधिपत्य जम चुका था। हमारे देश के साहित्य का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। भारतेन्दु एक प्रतिभाशाली कलाकार थे, उन्होंने हिन्दी-साहित्य के द्वार को उतना ही खोला, जिससे पश्चिमी साहित्य की आवश्यक सामग्री अन्दर आ सके। उन्होंने उस सामग्री को भारतीय संस्कृति में रँग डाला और नाटकों में भारतीयता की रक्षा करते हुए अंग्रेजी भाषा के सद्गुणों को अपना लिया। इसीलिए उनके नाटकों में सूत्रधार और नटी के साथ-साथ राष्ट्रीयता तथा नवीनता का भाव भी प्राप्त होता है, यद्यपि उनके नाटकों में अर्थ, प्रकृति, संधियों, अवस्थाओं तथा वृत्तियों का निर्वाह पूर्ण रूप से नहीं हुआ है, तथापि उनके नाटकों पर भारतीयता की छाप पूर्ण रूप से पड़ी है उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-कलाओं का सम्मिश्रण सुचारु रूप से किया है।

भारतेन्दु के नाटकों में जिस पथ का अनुसन्धान किया गया था, उसी पर उनके समय के नाटककार चलते रहे। श्रीनिवास दास का 'रणधीर' 'प्रेम-मोहिनी', पं० बद्रीनारायण चौधरी का 'भारत-सौभाग्य', बाबू तोताराम कृत 'केटो वृत्तान्त' अम्बिकादत्त के 'ललिता' 'वेणी संहार' और 'गो-संकट' आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। बाबू राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' का भी विशेष आदर हुआ है।

इन मौलिक नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग में संस्कृत तथा बंगला-नाटकों का अनुवाद भी हुआ। रायबहादुर लाला सीताराम ने 'उत्तर राम चरित' आदि कतिपय संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने 'मालती-माधव' और 'उत्तर राम चरित' का अति सुन्दर अनुवाद किया। उसके पश्चात् द्विजेन्द्रलाल राय तथा गिरीश घोष के बंगला-नाटकों के हिन्दी अनुवादों की तो धूम मच गई।

भारतेन्दु-युग के पश्चात् प्रसाद-युग का प्रादुर्भाव हुआ। जिस प्रकार हिन्दी-उपन्यासों में प्रेमचंद ने प्राण-संचार किया, उसी प्रकार हिन्दी-नाटकों में जयशंकर 'प्रसाद' ने नवजीवन डाल दिया। प्रसाद जी ने नाटकों में पाश्चात्य-कला को उतना ही ग्रहण किया जिससे भारतीयता नष्ट न हो। अंग्रेज़ी-नाटककारों में जो स्थान शेक्सपियर का है, हिन्दी-नाटककारों में वही स्थान 'प्रसाद' का है। चरित्र-चित्रण, शैली, कथानक, कथोपकथन तथा मार्मिकता के विचार से उनके नाटक आदरणीय स्थान रखते हैं।

के नियमों से जकड़े हुए हैं। दूसरे काल में लिखे गए नाटकों में—विशाख, अजात-शत्रु जनमेजय का नाग यज्ञ, कामना चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, एक घूँट और ध्रुव-स्वामिनी हैं। इन नाटकों में हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि नाटककार ने नाटक के नियमों की अवहेलना की है। अजातशत्रु में स्पष्टतः प्राचीनता का बहिष्कार दीख पड़ता है। इसीलिए इसमें मंगलाचरण, नान्दी, सूत्रधार और भरत वाक्य नहीं हैं। अन्य नाटकों में नियमों की कोई परवाह नहीं की गई है। यहां तक कि हत्या, युद्ध आदि जो बातें नाट्य-शास्त्र में वर्जित हैं, नाटकों में उनका बेरोक-टोक प्रयोग हुआ है।

प्रसाद ने अपने सभी नाटकों में नवीनता एवं प्रचीनता का सम्बन्ध बनाए रखा है। वे एक प्रकार से उस युग का प्रदर्शन करते हैं, जो प्राचीनता के कलेवर में नवीनता की वेश-भूषा से सुसज्जित हो चुका है। उन्होंने भारतेन्दु के द्वारा जो कुछ कमी रह गई थी, उसी को पूरा कराने का प्रयास किया है।

परन्तु वस्तु, पात्र और रस—जो तीन बातें नाटकों की जान हैं, इनके नाटकों में उसी रूप में विद्यमान हैं। हाँ, एक बात इनके नाटकों में हम विशेष रूप से पाते हैं, वह यह कि नाटक की परिभाषा दृश्य की अपेक्षा श्रव्य भी कर डाली गई है।

नाटकों में विचार-गाम्भीर्य, गहन दार्शनकता को भी इन्होंने स्थान दे दिया है। इसका कारण कुछ तो इनका कवि तथा गम्भीर एवं मननशील होना था और कुछ अन्वेषक। आपके नाटकों में भाषा के अतिरिक्त भावों में भी परिवर्तन हुआ है। अभिव्यक्ति नई बनी, कविता का दृष्टिकोण बदला—हरिश्चन्द्र के युग से कविता का जो रूप हिन्दी-नाटकों में अर्ध जाग्रत् हुआ था, वह प्रसाद के नाटकों में आकर एकदम जाग्रत चेतन

हो रहा। प्रसाद ने इनमें माधुर्य, सौंदर्य तथा गाम्भीर्य भर दिया। यह आपका एक नूतन एवं सुन्दर प्रयत्न है। एक उदाहरण देखिये:—

यह कसक अरे आंसू सह जा,
बन विनय अभिमान मुझे मेरा अस्तित्व बता, बह जा।

इसके साथ इनकी देश-भक्ति की भावुकता और दृढ़ता की मूँची से और भी गहरा कर दिया। चाणक्य, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त आदि पात्रों के द्वारा देश-प्रेम की सतह को ऊंचा उठाया।

'स्कंदगुप्त' में प्रसाद की देश-पूजा स्पष्ट झलकती है। भारत के प्रति आपका गान इतना सुन्दर है कि राष्ट्र-सभा के अधिवेशनों में गाया जाना चाहिए:—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

अस्तु; प्रसाद ने हिंदी-नाटकों में एक नवीन जीवन डाल दिया। कविता और नाटक के क्षेत्र में वे पलायनवादी बनकर अवतीर्ण हुए।

अपनी निजी शैली और विचार स्वतन्त्र हैं। नाटकों में अप्रकविता को स्थान देने के विरोधी हैं। आपने अभी 'श्रीराम' 'सीताराम' नाटक, जो भास और भवभूति के आधार पर हैं, लिखकर संस्कृत के नाटक-अनुवाद को एक नया मार्ग दिखलाया है।

इसके साथ ही हिन्दी-नाटक पर अन्य भाषाओं का प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। इब्सन और बर्नार्डशा का प्रभाव विशेष रूप से हमारे नाटकों पर पड़ा। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। पश्चिमीय नाटककार रस को प्रधानता नहीं देते। वे समाज की वास्तविक स्थिति को जनता के सामने रखकर चरित्र-चित्रण पर ही विशेष जोर देते हैं। आजकल जिस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय तत्त्वों ने साहित्य में अपना स्थान जमा लिया है; उसी प्रकार वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्व भी साहित्य के अंगीभूत हो रहे हैं। अब रस और तत्व का सम्मिलन हो गया है।

आज इंग्लैंड में बर्नार्डशा की धूम मची है। उनके नाटकों में मनोविज्ञान की प्रधानता पाई जाती है। वे मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण करना खूब जानते हैं। सम्भवतः लक्ष्मीनारायण मिश्र और श्री गोविन्दवल्लभ पन्त के ऊपर आधुनिक विदेशी नाटककारों का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी में भी अंग्रेजी ढंग के नाटक लिखे जा रहे हैं। 'सिन्दूर की होली' नाटक इसका अच्छा प्रमाण है। इसमें विधवा-विवाह की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। एक विधवा कहती है -"विधवा-विवाह से वैधव्य तो मिटा नहीं, उलटी तलाक़ की समस्या और खड़ी हो गई है।" लक्ष्मीनारायण मिश्र के कई नाटक इसी ढग के हैं।

'जयन्त', सद्गुरुशरण अवस्थी का 'मुद्रिका', पृथ्वीनाथ शर्मा का 'अपराधी', और पन्त का 'अंगूर की बेटी' आधुनिक युग के नवीनतम नाटक हैं। इनमें से बहुत-से नाटकों में हम जीवन के वर्तमान को उतनी गहराई से नहीं देख पाये हैं। फिर भी प्रयास जारी है। पाठक देखेंगे कि इन नाटकों में जीवन और उसका रूप अर्थात् वस्तु, संवाद, अभिव्यंजना, निर्वाह, शैली सभी कुछ बदल गया है। पात्र भी हम तुम लोग ही हैं; और हैं प्रति-दिन जीवन में आने वाली समस्याएं। इसमें न कल्पना की ऊँची उड़ान है, न नाट्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार धीरोदात्त, धीर ललित, धीरोद्धत तथा धीर प्रशान्त नायक ही। सभी नाटकों में दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली ही समस्याएं हैं। नायक और नायिका दैनिक जीवन में दिखाई देने वाले मनुष्य हैं। आज के नाटक की नायिका वह आधुनिक नारी है, जिसके हृदय में या तो आँसुओं का सागर भरा है—या फिर कामदेव के जलने के बाद एकदम निरीह निरुपाय रति का वास-स्थान। बच्चे और बूढ़े सभी हमारी नाटक मंडलियों में शामिल हो गए हैं। एक तरह से रंग-मंच हमारा घर हो गया है। इस प्रकार आज का नाटककार हम-आप सब में से ही अपनी कथा को चुनता है। उसे यह परवाह नहीं कि इन चुने हुए पात्रों में आदर्श है या नहीं। उसकी भाषा उठकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति में समा सकेगी या नहीं। पुराने नौ अंकों से भी उसने छुट्टी पा ली है। वह अब समय के अभाव से पाँच अंक भी नाटक में नहीं रखना चाहता। वह जीवन के पहलू को दिखाने के लिए अपनी बात तीन अंकों में ही समाप्त कर देना चाहता है। यह है आज के नाटकों का उत्कृष्ट रूप, जो बदलते-बदलते न जाने कौन-से रूप में पहुँचेगा।

: १६ :

एकांकी

हिन्दी-साहित्य में एकांकी ने वही लोकप्रियता प्राप्त कर ली है, जो आज उपन्यास-प्रेमी जनता के हृदय में कहानी ने। जैसे उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण कहानी है, एकांकी भी वैसे ही बड़े नाटक का अद्यतन परिष्कृत रूप है। इनमें केवल आकार-प्रकार का ही अन्तर नहीं होता। बड़े नाटकों में जहाँ किसी भी पात्र के जीवन की जटिलता, चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और घटना-चक्र का सुदीर्घ नर्त्तन होता है, वहाँ एकांकी में नायक के जीवन के किसी विशेष अंग की झलक, चरित्र का कोई एक पहलू और सूक्ष्म घटना-संकेत रहता है। एकांकी नाटक की कला बड़े नाटकों की कला से सर्वथा भिन्न अपनी है। भयंकर अशांति और कोलाहल से परिपूर्ण वातावरण में भी प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यस्त जीवन में से थोड़ा-सा समय निकालकर मनोरंजन कर लेता है। एक-मात्र यही एकांकी का उद्देश्य है।

हिन्दी में एकांकी नाटकों का प्रचार अभी पिछली दशाब्दी से ही अधिक हुआ है। वैसे तो छोटे-छोटे दृश्य पहले रंगमच पर भी यदा-कदा देखे जा चुके हैं; किंतु उनका विकसित रूप अभी प्रकाश में आया है। वास्तव में एकांकी पश्चिम से आया है। अंग्रेजी के पुराने नाटक Every man अथवा The Faur Pr. एक प्रकार के एकांकी नाटक ही हैं। विगत महायुद्ध के कुछ समय पूर्व ही यूरोप में इस नये ढंग के छोटे नाटक का निर्माण हुआ और शीघ्र ही यह लोकप्रिय भी हो गया। अमेरिका

में एकांकी नाटकों का विशेष स्वागत हुआ; क्योंकि स्वभाव से ही अमेरिका निवासी पट्रस-व्यंजन पसन्द करते हैं। एक लम्बे और गम्भीर नाटक की अपेक्षा एक छोटा और सरस नाटक देखना उन्होंने अधिक श्रेयस्कर समझा।

स्पष्टतः एकांकी एक ही नाटक में समाप्त हो सकने वाला नाटक है; और यद्यपि इस अंक की लम्बाई-चौड़ाई निर्धारित करने के लिए कोई मापदंड नहीं है तथापि छोटी कहानी की भांति इसकी कुछ सीमा तो है ही। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं। सारांशतः एकांकी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह बात दूसरी रही कि कोई कहानी थोड़ी-बहुत काट-छाँट के बाद एकांकी में परिवर्तित कर दी जाय अथवा किसी संवाद में एकांकी के गुण हों, लेकिन एकांकी तब तक 'एकांकी' नहीं कहा जायगा जब तक कि वह पूर्णतया 'स्टेज' की दृष्टि से नाट्य न हो। इसके अतिरिक्त किसी कहानी को एकांकी का रूप दे देना एक बात है और अभिनय के लिए एकांकी लिखना दूसरी बात।

कहते हैं कि यह युग बड़ा ही तीव्रगामी है। इसमें किसी को मरने-भर तक का भी अवकाश नहीं। लन्दन अथवा बंबई-जैसे नगर में यदि कोई ग्रामीण जा फँसे तो वह वहाँ के यातायात और दौड़-धूप के जीवन से तुरन्त ऐसा समझ बैठेगा कि कहीं लोग आग बुझाने तो नहीं दौड़े जा रहे। रेल, तार, और वायुयान के इस प्रगतिशील युग में कौन वह कभी न खत्म हो सकने वाले मीलों लम्बे नाटक पढ़े; जिनमें जीवन की अचल घड़ियाँ ही सुरक्षित हैं। अथवा कौन दिन-भर की थकान से चूर-चूर हो मनोरंजनार्थ काठ की कठिन 'सीट' पर बैठकर अपनी

: १७ :

रंग-मंच

प्राचीन भारत और तत्कालीन समाज में रंग-मंच का काफी सम्मान था। रंग-मंच पर अभिनय करना गौरव की बात समझी जाती थी। पर आज के क्रान्तिकारी युग में हिन्दी-रंग-मंच पर अभिनय करने वालों का प्रायः अभाव-सा है। जहाँ संसार के समस्त प्रगतिशील राष्ट्रों में रंग-मंच की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा नाटकों का चुनाव भी रंग-मंच की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर ही किया जाता है, वहां जब हम अपनी भद्दी सजावट से युक्त रंगशालाओं को देखते हैं तो हृदय में एक ठेस लगती है और ऐसा जान पड़ता है कि मानो हम अपने रंग-मंच की ओर से सर्वथा-उदासीन हैं। सच बात तो यह है कि हिन्दी में रंग-मंच नहीं के बराबर हैं। रंग-मंच के अभाव के कारण हमारे नाटकों का प्रचार साधारण जनता में नहीं हो सकता और इससे नाट्य-साहित्य की प्रवृत्ति भी रुक गई है। रंग-मंच के अभाव में आज का हिन्दी-नाटक एक श्रव्य काव्य बनकर रह गया है। हिन्दी में अनेक ऐसे नाटक भी हैं, जिनका रंग-मंच पर अभिनय करना कठिन है। इसका कारण ही रंग-मंचों का अभाव है। जब हिन्दी-नाटकों का रंग-मंच पर अभिनय होने लगेगा तो नाटककार लिखते समय अवश्य इस बात का ध्यान रखेगा कि मेरा नाटक रंग-मंच पर खेला जा सके और जब रंग-मंच ही नहीं है तो नाटक-रचयिता भी इस बात की लापरवाही कर जाते हैं। फिर

हिन्दी में ऐसे नाटकों का अभाव नहीं हैं जो रंग-मंच पर खेले जा सकें।

भारत के उत्तर-मध्य प्रान्तों में स्टेज है ही नहीं, बंगाल में भी आजकल पहले की अपेक्षा उसका ह्रास हो गया है। हां, दक्षिण और महाराष्ट्र का रंग-मंच अब भी सक्रिय है।

हिन्दी के लेखक के सामने आज अपना कोई रंग-मंच नहीं, फिर भी जिस मंच को दृष्टि में रखकर वह नाटक की रचना करता है, उसके विषय में कुछ विवेचन कर देना आवश्यक है।

हमारे रंग-मंच के आज तीन स्वरूप हैं—१ पारसी रंग-मंच का भग्नावशेष, २ अव्यवसायी मंच, ३-रजत पट।

आज से कुछ वर्ष पूर्व पारसी रंग-मंच की भारत में धूम मची हुई थी। 'एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' तथा 'कोरन्थियन नाटक कम्पनी' का मंच-शिल्प धीरे-धीरे विकास की ओर पहुँच रहा था। उन्होंने मंच-भ्रम के कुछ साधन भी जुटा लिये थे। विभिन्न दृश्यों के लिए बढ़िया पर्दे, चिता एवं अग्नि इत्यादि के लिए पाउडर का प्रयोग करते थे। वेश-भूषा में वैभव था। बिजली के अक्स से रंगीन दृश्यों का विधान भी करते थे। फांसी, हत्या आदि के लिए अंधेरे दृश्यों की सृष्टि होती थी। युद्ध का दृश्य भी कुछ-कुछ उपस्थित करते थे। मंच पर हाथी, घोड़े तथा अन्य पशु भी धीरे-धीरे आने लगे थे। उनका संगीत-समाज समृद्ध था। परन्तु यह सब होते हुए भी उनके पास साहित्यिक सुरुचि न थी। ये कम्पनियां व्यवसायी थीं। जनता को खुश करके पैसा कमाना ही इनका ध्येय था- न कि नाटक-साहित्य का विकास करना। वास्तव में उन्हें उस समय तक कला के स्थूल रूप का ही पता था। कला के आन्तरिक सौन्दर्य एवं आनन्द से वे अनभिज्ञ

थे। इसके परिणाम स्वरूप वे लोग अनेक प्रकार की ऐतिहासिक भूलें भी करते थे। उनका हास्य बड़ा बे-ढंगा, अभिनय में अतिरंजना, कथोपकथन में व्यर्थ का वम्बास्ट और माइक्रोफोन प्रयोग न करने के कारण प्रत्येक अभिनेता को अस्वाभाविक स्वर में बोलना पड़ता था। इस पर भी इस रंगमंच का खासा व्यवसाय चल रहा था किन्तु सिनेमा के प्रादुर्भाव से यह व्यवसाय वे मौत मर गया। आज भी इन कम्पनियों के खण्डहर मौजूद हैं।

दूसरा अव्यवसायी रंग-मंच है। केवल मनोरंजन अथवा कला-प्रेम की सन्तुष्टि के लिए नगरों में कुछ शौकीन लोग समय-समय पर साधारण-से नाटकों का अभिनय करते रहते हैं। इनमें कालिज और स्कूलों के छात्रों का भी सहयोग है। इन मंचों का प्रारम्भ भी पारसी मंचों को देखकर हुआ था। परन्तु जब से शिक्षित जनता भी इसमें दिलचस्पी लेने लगी है तब से इनकी दशा भी कुछ सुधर गई है। फिर भी यह मंच निर्धन है। इसका कारण है हमारी निर्धनता। ये मंच कोई व्यवसाय की हानि से तो होते नहीं। इनका उद्देश्य तो केवल मनोरंजन होता है मनोरंजन के लिए तो तभी धन खर्च किया जायगा जब अपनी आवश्यकता से शेष रहेगा। इसके पास न पर्दे अच्छे हैं, न वेष-भूषा का प्रसाधन। फिर भी स्वाभाविकता तथा कला की दृष्टि से ये मंच पारसी मंचों से आगे है। इसी कारण साधारण समाज-जीवन के दृश्यों में इन अभिनेताओं को अच्छी सफलता मिल जाती है।

हमारे रंग-मच का तीसरा रूप रजत-पट (सिनेमा) है। इसका प्रचलन भारत में कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है। फिर भी इस थोड़े से समय में इसने आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त कर ली

है। आज भारत में अनेक कम्पनियां हैं। यद्यपि इनमें अधिकांश कम्पनियां पारसी-मंच के रिक्त-स्थान की पूर्ति-सी करती हैं—फिर भी कुछ मूवीटोन कला की दृष्टि से ऊंचा अस्तित्व रखते हैं। बंगाल की न्यू थियेटर्स, महाराष्ट्र की प्रभात कम्पनी तथा बम्बई की बाम्बे टाकीज कला की दृष्टि से अच्छे चित्र प्रस्तुत कर रही हैं। इनमें बाम्बे टाकीज को तो हम एक-मात्र हिन्दी का मंच कह सकते हैं।

यदि देखा जाय तो सिनेमा ने नाट्य-कला के लिए अनन्त क्षेत्रों का उद्‌घाटन कर दिया है। नाटककार को अब एक विस्तृत मंच मिल गया है। हर प्रकार के दृश्यों को सुन्दर रूप में चित्रपट पर दिखाया जा सकता है। कल्पना को अवकाश देने के साथ-साथ सिनेमा ने अभिनय-कला को विकसित किया है। आज भारत में कई उत्तम श्रेणी के अभिनेता हैं। हिन्दी के अभिनेताओं में चन्द्रमोहन, पृथ्वीराज, सान्याल, अशोक कुमार, प्रेम अदीब आदि सफल कलाकार हैं। स्त्रियों में कानन, जमुना, देविकारानी, शान्ता आप्टे, लीला देसाई, लीला चिटनिस तथा शोभना समर्थ ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। संगीत और नृत्य की समृद्धि भी आशाजनक है।

'न्यू थियेटर्स' बंगाल की कम्पनी है। इसके चित्र भावपूर्ण, रोमांटिक, संगीतमय तथा कोमल होते हैं। इसके 'देवदास' 'हमराही' आदि चित्र कला एवं भाव की दृष्टि से अच्छे सफल हुए हैं। 'प्रभात' का महाराष्ट्र से सम्बन्ध होने के कारण उसके चित्रों में जीवन का पौरुष झलकता है। 'आदमी' में इसका सजीव चित्रण देखिए। बाम्बे टाकीज के चित्र प्रायः सामाजिक एवं सुधारवादी होते हैं। इसमें प्रायः मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के मिले-जुले चित्र होते हैं। मिनर्वा के चित्र भी अच्छे

आये, परन्तु उसके चित्र उर्दू की विभूति हैं। हिन्दी का 'जेलर' अथवा 'सिकन्दर' पर कोई अधिकार नहीं। स्व० प्रेमचन्द जी की 'रंगभूमि' का भी अच्छा चित्रण हमारे सामने आया। उस चित्र की भाषा प्रेमचन्द जी की भाषा से मिलती-जुलती ही रखी गई है। कला का भी उसमें उत्तम प्रदर्शन है। यदि हम किसी चित्र को हिन्दी-चित्र कह सकते हैं तो वह है 'प्रकाश' का 'राम-राज्य' तथा 'भरत-मिलाप'। इन चित्रों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विशुद्ध चित्रण किया गया है। इनकी भाषा भी शुद्ध हिन्दी है। इधर पिछले दिनों हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के रक्षा-बन्धन नाटक का 'चितौड़-विजय' नाम से प्रदर्शन हुआ था। प्रेमी जी वैसे भी आजकल चित्र-निर्माण में व्यस्त हैं।

इस प्रकार आज रजत-पट निरन्तर उन्नति कर रहा है। परन्तु अभी तक वह नाटक की अपेक्षा उपन्यास को अधिक अपनाता है। किन्तु अब धीरे-धीरे सिनेरियो के लिए नाटक भी लिखे जाने लगे हैं और उधर सिनेमा भी नाटकों को अपनाने लगा है। यदि सिनेमा और नाटक का पारस्परिक सहयोग हो गया तो हिन्दी का ही क्या, भारत के रंग-मंच का भविष्य भी उज्ज्वल हो जायगा।

☆

: १८ :

जीवनी : आत्म-कथा : संस्मरण

इतिहास-साहित्य का एक प्रसिद्ध अंग जीवनी-लेखन है। जीवनी लिखने की परिपाटी पुरानी होते हुए भी हिन्दी के लिए सर्वदा नवीन ही है। मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण-केन्द्र मनुष्य है। सारा साहित्य ही मनुष्य का अध्ययन है, किन्तु जीवनी, आत्म-कथा तथा संस्मरणों में वह अध्ययन सत्य और वास्तविकता की कुछ अधिक गहरी छाप लेकर आता है। इतिहास के निर्माण की जब से मनुष्य को चिन्ता हुई, तब से ही जीवनी-निर्माण का युग भी प्रारम्भ हुआ। जीवनी घटनाओं का अंकन नहीं, प्रत्युत चित्रण है। वह साहित्य की विधा है और उसमें साहित्य और काव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। वह मनुष्य के वाह्य और अन्तर स्वरूप का कलात्मक निरूपण है। जिस प्रकार चित्रकार अपने विषय का एक ऐसा पक्ष पहचान लेता है जो उसके विभिन्न पक्षों में प्रस्तुत रहता है और जिसमें नायक की सभी कलाएं और छटाएं समन्वित हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवनी-लेखक भी अपने नायक के अन्तर को पहचानकर उसके आलोक में सभी घटनाओं का चित्रण करता है। जीवनी में उसके नायक का अस्तित्व उभर आता है। जीवन-चरित्रों के कई प्रकार साहित्य-शास्त्रियों ने कहे हैं। हमारे मत में जीवनी, आत्म-कथा और संस्मरण यही तीन प्रकार प्रधान रूप में साहित्य में व्यवहृत होते हैं। जीवनी कोई दूसरा आदमी लिखता है, आत्म-कथा स्वयं लिखी जाती है और संस्मरण में जीवन के किसी भ

महत्वपूर्ण भाग या घटना का उल्लेख होता है। इसे कोई भी लिख सकता है, अर्थात् कोई भी व्यक्ति स्वयं अपने जीवन की किसी महत्वपूर्ण घटना के सम्बन्ध में लिख सकता है अथवा दूसरे व्यक्ति के विषय में भी लिखा जा सकता है। अब हम क्रमश, तीनों का विश्लेषण निम्न पंक्तियों में करेंगे।

हिन्दी में हर तरह की जीवनियाँ उपलब्ध हैं—धार्मिक व्यक्तियों की जीवनियाँ, राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ, ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित्र, साहित्यकारों की जीवनियाँ, और विदेशी महापुरुषों का परिचय। उदाहरण के लिए धार्मिक महापुरुषों में आपको गौतम बुद्ध से लेकर स्वामी दयानन्द सरस्वती तक अनेक महापुरुषों, सन्तों तथा सुधारकों की जीवनियाँ हिन्दी में पढ़ने को मिल सकती हैं; ऐतिहासिक तथा राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ प्रायः अधिक परिश्रम के साथ लिखी गई हैं और इनकी संख्या भी अधिक है। प्रसिद्ध मौर्य तथा गुप्त सम्राटों की जीवनियाँ, राजपूत नरेशों और मराठा वीरों के चरित्र, सिख गुरुओं की जीवनियाँ, मुग़ल सम्राटों के जीवन-चरित्र तथा आधुनिक राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। हिन्दी के मध्य तथा वर्तमान युग के कवियों और लेखकों की जीवनियाँ भी कम संख्या में नहीं मिलतीं; यद्यपि ये प्रायः साहित्यिक आलोचना के एक अंग के रूप में, अथवा रचना-संग्रहों की भूमिका-स्वरूप पाई जाती हैं। विदेशों के प्रसिद्ध महापुरुषों की भी हिन्दी में उपेक्षा नहीं की गई। आपको सुकरात, ईसा मसीह, मुहम्मद साहब, कोलम्बस, नेपोलियन, बिस्मार्क. गैरीबाल्डी, जान स्टुअर्ट मिल, मैक्समूलर, धन-कुबेर कार्नेगी, अब्राहम लिंकन, बैंजमिन फ्रैंकलिन, डी० बेलरा, कार्लमार्क्स, लेनिन व मुस्तफा

कमाल पाशा, हिटलर, स्टालिन, संनयात सेन, चांगकाई शेक, जापान के गान्धी कागा वा तथा दीनबन्धु एण्ड्रूज आदि प्राचीन तथा अर्वाचीन विदेशी व्यक्तियों के चरित्र भी हिन्दी में पढ़ने को मिल सकते हैं।

हिन्दी के विकास-काल में लगभग ऐसी ही जीवनियाँ लिखी गईं, जिनका उल्लेख हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं। हिन्दी में जीवनी की परिभाषा की कसौटी पर कसे जाने योग्य जीवनियाँ इधर द्विवेदी-युग से प्रारम्भ हुईं। प्राचीन हिन्दी के जीवनी-साहित्य में गोस्वामी गोकुलनाथ का 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा नाभा जी की 'भक्तमाल' एवं उस पर लिखी हुई प्रियादास की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें महत्त्व-प्रदर्शन और साम्प्रदायिकता की मात्रा कुछ अधिक है। श्री बनारसीदास जैन द्वारा लिखित पद्यमय आत्म-कथा में सत्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। उसमें लेखक ने अपनी न्यूनताओं की ओर अधिक संकेत किया है। इधर बालकों पर प्रभाव डालने वाली सरल, ललित, एवं भावपूर्ण शैली में लिखी गई कुछ बालोपयोगी जीवनियाँ भी बहुत लिखी गई हैं। इस सम्बन्ध में छात्र हितकारी पुस्तक-माला दारागंज प्रयाग की सेवाएं संस्मरणीय हैं।

पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'सत्यनारायण कविरत्न' तथा 'भारत-भक्त एण्ड्रूज' नामक दो ग्रन्थ लिखकर हिन्दी के जीवनी-साहित्य में एक अद्भुत क्रान्ति की है। उनकी वर्णन-शैली में चरितनायक के एक-एक जीवन-पहलू का सजीव चित्रण देखते ही बनता है। श्री व्रजरत्नदास ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का बड़ा सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा है। श्री सीताराम चतुर्वेदी की महामना मालवीय जी की जीवनी भी सर्वांगपूर्ण

एवं कलात्मक है। श्री रामनाथलाल 'सुमन' ने 'हमारे नेता' नामक पुस्तक में आज के भारतीय राजनीतिक नेताओं की जीवनी बड़ी मार्मिक शैली में लिखी है। उनकी शैली अपनी तथा वर्णन करने की विधा अद्वितीय है। श्री सत्यदेव विद्यालंकार की 'हमारे राष्ट्रपति' तथा 'स्वा० श्रद्धानन्दजी की जीवनी', घनश्यामदास बिड़ला का 'बापू', श्री श्यामनारायण कपूर का 'भारतीय वैज्ञानिक', श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'सेगांव का सन्त', श्री गौरीशंकर चटर्जी का 'हर्ष वर्द्धन', श्री रूपनारायण पाण्डेय का 'सम्राट् अशोक' श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की 'विप्लवी जयप्रकाश' तथा 'रोजा लुग्जेम्बुर्ग' आदि पुस्तकें हिन्दी के जीवनी-साहित्य की गौरव-निधि हैं। आजकल जीवनी-साहित्य में राजनीतिक नेताओं की जीवन-कथाओं को विशेष महत्त्व मिल रहा है। वैसे साहित्यिक कृतिकारों की जीवनी की दिशा में भी डाक्टर रामविलास शर्मा का 'निराला' उसके शुभ प्रारम्भ का द्योतक है।

इधर कुछ दिनों से 'आत्म-कथा' लिखने की परिपाटी भी चल निकली है। वास्तव में एक निश्छल और निष्कपट व्यक्ति की आत्म-कथा से प्रामाणिक दूसरे की जीवनी नहीं हो सकती। साधारण जीवन-चरित्र से 'आत्म-कथा' में कुछ विशेषता होती है। आत्म-कथा-लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता। किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मा-श्लाघा प्रवृत्ति की बाधक होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्म-प्रकाश में रुकावट डालता है। जीवनी लिखने वाले को दूसरे के दोष और आत्म-कथा लिखने वाले को अपने गुण कहने में सचेत रहने की आवश्यकता है। आत्म-कथाएं दो रूप में लिखी जा

सकती हैं। उनमें पहली श्रेणी-सम्बद्ध और द्वितीय स्फुट निबन्धों के रूप में हमें हिन्दी में देखने को मिलती हैं। सबद्ध रूप में राजेन्द्र बाबू तथा बाबू श्यामसुन्दरदास की आत्म-कहानी एवं स्फुट निबन्धों के रूप में बाबू गुलाबराय एम० ए० की 'मेरी असफलताएं' उल्लेखनीय हैं। वैसे हिन्दी में राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी, तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू की आत्म-कथाएं भी मिलती हैं, किन्तु हम यहां हिन्दी की मौलिक आत्म-कथाओं का ही उल्लेख करेंगे, अनूदित का नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास की आत्म-कथा उनकी जीवन-कहानी होने के अतिरिक्त नागरी-प्रचारणी-सभा और हिन्दी के उत्थान का सजीव इतिहास है। हिन्दी में 'हंस' के 'आत्म-कथा-अंक' ने भी इस दिशा का पर्याप्त निर्देश किया है। सियारामशरण गुप्त के 'झूठ-सच' तथा 'बाल्य-स्मृति' आदि कुछ लेख इन्हीं कोटि के हैं। निराला जी ने 'कुल्ली भाट' में जीवनी के सहारे अपनी आत्म-कथा का भी कुछ अंश अव्यक्त रूप से दे दिया है, किन्तु वह कहानी की कोटि में ही रहेगी। आधुनिक साम्य-वादी प्रवृत्ति के अनुकूल उनके 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्ली भाट' जीवनी के विषय बन जाते हैं, किन्तु इनमें कल्पना का पुट अधिक है। महादेवी जी की 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएं' नामक कृतियां आत्म-कथा और निबन्ध के बीच की कड़ी हैं।

अब धीरे-धीरे आत्म-कथा-साहित्य प्रगति पथ की ओर बढ़ रहा है। वैसे हिन्दी के प्रारम्भिक काल की मौलिक आत्म-कथाओं में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक' नामक पुस्तक विशेष स्मरणीय रहेगी। भाई परमानन्द की 'आप बीती' एक साहसपूर्ण जीवन के घात-प्रतिघातों की कहानी

है। अभी पिछले दिनों 'राजहंस प्रकाशन' दिल्ली द्वारा स्वामी भवानीदयाल संन्यासी की आत्म-कथा 'प्रवासी की आत्म-कथा' नाम से प्रकाशित हुई है। राजनीतिक महत्त्व के साथ उसका साहित्यिक महत्त्व भी है। श्री हरिभाऊ उपाध्याय की 'साधना के पथ पर' तथा श्री वियोगी हरि की 'मेरा जीवन-प्रवाह' नामक पुस्तकें हिन्दी की आत्म-कथाओं के निर्माण में एक विशेष दिशा की द्योतक हैं। श्री राहुल जी अपनी बहु-भाषा-विज्ञता तथा विद्वत्ता के लिए चिर-प्रख्यात हैं, उनकी 'मेरी जीवन-यात्रा' नामक पुस्तक प्रगतिशील परम्परा के लिए एक ज्वलन्त प्रकाश-स्तम्भ सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त बाबू मूलचन्द्र अग्रवाल, प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'पत्रकार की आत्म-कथा' एवं 'मेरी जीवन-झाँकियाँ' नामक पुस्तकें हिन्दी की पत्रकारिता का सजीव इतिहास सिद्ध होंगी। इसी प्रकार सम्पादकाचार्य पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एवं श्री श्रीराम शर्मा के पत्रों में प्रकाशित आत्म-चरितात्मक स्फुट लेख भी इस दिशा के विकास का परिचय देते हैं।

जीवनी तथा आत्म-कथा के उपरान्त संस्मरण-साहित्य का उल्लेख कर देना भी अति आवश्यक है। हिन्दी में संस्मरण लिखने की कला का अभी प्रारम्भ ही समझें। इसका प्रारम्भ वैसे तो सम्पादकाचार्य पण्डित पद्मसिंह शर्मा द्वारा हुआ था; परन्तु तब कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई। संस्मरण लिखने की कला का विकास हमें सर्व श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' एवं श्री रामनाथ 'सुमन' की रचनाओं में दृष्टिगत होता है। वैसे यात्रा सम्बन्धी जो अनेक पुस्तकें हिन्दी में निकली हैं; उनमें भी हमें संस्मरण की छुट-पुट झलक देखने को मिलती है। श्री शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' पण्डित रामनारायण मिश्र एवं

बा० गौरीशंकरप्रसाद वकील की 'योरोप यात्रा के छः मास' मुन्शी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरान यात्रा' तथा स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'अमेरिका-भ्रमण' आदि पुस्तकें पठनीय हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत आदि देशों के सम्बन्ध में खूब लिखा है। श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने भी 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' नामक पुस्तकें संस्मरणात्मक लिखी हैं। श्री बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' तथा श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की 'भूले हुए चेहरे' पुस्तकें हिन्दी के संस्मरण-साहित्य की अतुल निधि हैं।

क्योंकि इधर वर्षों से पराधीन रहने के कारण देशवासियों के जीवन की धाराएं बँधी और अवरुद्ध रही हैं इसलिए साहित्य के क्षेत्र में जो अनेकरूपता होनी चाहिए वह नहीं है। उदाहरण के लिए अभी भारत में प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक सिपाही अथवा व्यापारी या भूगोल सम्बन्धी अन्वेषक कितने हुए हैं; यह भी किसी को पता नहीं। परिणाम स्वरूप उक्त श्रेणी के व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली जीवनियों तथा संस्मरणों का भी प्रायः अभाव-सा है। देश के जीवन की अनेकरूपता के साथ साहित्य की इस दिशा में भी अधिकाधिक प्रगति हो सकेगी, ऐसी आशा है।



: १६ :

लोक-गीत

साहित्य के संसार में लोक-जीवन का जल छन-छनकर आता है। इसलिए बहुत-सी ऐसी चीजें, जो बहते हुए सोते के

पानी को मिठास देती हैं, बाहर ही रह जाती हैं। इन बाहर रही चीजों में लोक-गीत सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु है। यह मूल्यवान वस्तु बहते हुए साहित्य की सबसे बड़ी खूबी है। जनता के जीवन में पानी की धारा की भांति बहने वाला साहित्य सच्चे अर्थ में लोक-साहित्य है; जिसमें कहानी, इतिहास, पुराण, नाटक, काव्य आदि की सभी धाराओं का जल मिलकर आता है। इन विविध धाराओं में सबसे प्रमुख धारा लोक-गीतों की है; जो कि जाने किस जमाने से बहती चली आ रही है।

लोक-गीतों में मनुष्य के जीवन के सुख-दुःख, हँसी-खुशी धूप-छाया की तरह व्याप्त रहते हैं। हृदय की भावनाएं अपने आस-पास की दुनिया की चीजों के बीच बहती हुई लोक-गीतों में चलती हैं। आस-पास की दुनिया की सरसता उजली धूप और मनोहर चाँदनी की भाँति लोक-गीतों में व्याप्त रहती है।

लोक-गीतों के मीठे स्वरों में युग-युग की पीड़ा-वेदना, युग-युग का हर्ष, रीति-नीति, प्रथा-गाथा, अचूक-सहज रूढ़ि-वार्ता, भौगोलिक एवं वातावरण-निर्मित संस्कृति-परम्परा ये सभी इन स्वरों में अपने नाम, धाम अथवा वंश आदि का परिचय देती प्रतीत होती हैं। नीरव उदास दोपहरी हो, चाहे रात्रि का दूसरा प्रहर; ये स्वर थमते नहीं। ऋतु-पर्व उत्सव की शत-शत स्मृतियाँ, आशा-प्रतीक्षा के शत-शत उपचार इन स्वरों में सजग हो उठते हैं।

इन लोक-गीतों के विविध रूपान्तर और एक-से भाव-चित्रों के विविध संस्करण लोक-मानव की एकता का परिचय देते हैं। पर स्वरों के विस्तार-प्रसार और चित्रों की बहुमुखी शैलियां लोक-गीतों की अग्रगामी शक्तियों का प्रमाण हैं।

इन लोक-गीतों में मानव-संस्कृति का सुन्दर एवं सरस आभास झलकता है। कहां किस आचार-विचार की छाप पड़ी

है, कहां किस वर्ग-विशेष की रीति-नीति प्रतिबिम्बित हो उठी है? कहां किस गाथा में एक वर्ग ने अपने दृष्टि-पथ में आने के सम्बन्ध में अपने निश्चित मत प्रकट किये हैं? सूर्य, चन्द्र, तारा—बादल, तूफान, बिजलियां—इनके सम्बन्ध में क्या-क्या सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, कौन-सी वस्तु शोक-प्रेरक है, कौन-सी प्रोत्साहक? कौन-सी वस्तु विजय-श्री का चिह्न है और कौन-सी पराजय अथवा निराशा का संकेत करती है—इन सब बातों की झलक हमारे लोक-गीतों में स्पष्ट दिखाई देती है। लोक-गीत लोक-जीवन का दर्पण है।

जीवन को नये कोमल रूप में देखने की चाह मनुष्य के हृदय में सदैव से छिपी रहती है। एक स्त्री जब किसी हरे वृक्ष अथवा बेल को पानी से सींचती है तो उसे विशेष आनन्द होता है। उसके हृदय में छिपी वात्सल्य की भावना ही उभर-कर सामने आती है और लोक-गीत के स्वरों में यह भावना झंकृत हो उठती है:—

'पेड़ धरि सिंचए नव रंगिया'

किसी लोक-गीत की यह पंक्ति उस रिवाज की याद दिलाती है जो प्राचीन काल में भारत में लगभग सभी जगह प्रचलित था। और आज भी कहीं-कहीं पाया जाता है। गोद भरने की कामना से लता, बेलों और हरे वृक्षों को स्त्रियां सींचती हैं, भारत से बाहर अमरीका में भी यह रिवाज है।

गोद भरने वाले की खुशी में एक-से-एक सुन्दर सोहर गाये जाते हैं और एक दिन मक्खन-सा कोमल, दूध का गाला-सा बच्चा इस दुनिया में अपनी गुलाब की पंखुड़ियों-जैसी हस्ती को लेकर उछाह में गाने वालियों के मुंह से हुलास-भरे गीत ठनकती हुई ढोलक के साथ सुनता है:—

पानी को मिठास देती हैं, बाहर ही रह जाती हैं। इन बाहर रही चीजों में लोक-गीत सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु है। यह मूल्यवान वस्तु बहते हुए साहित्य की सबसे बड़ी खूबी है। जनता के जीवन में पानी की धारा की भांति बहने वाला साहित्य सच्चे अर्थ में लोक-साहित्य है; जिसमें कहानी, इतिहास, पुराण, नाटक, काव्य आदि की सभी धाराओं का जल मिलकर आता है। इन विविध धाराओं में सबसे प्रमुख धारा लोक-गीतों की है; जो कि जाने किस जमाने से बहती चली आ रही है।

लोक-गीतों में मनुष्य के जीवन के सुख-दुःख, हँसी-खुशी धूप-छाया की तरह व्याप्त रहते हैं। हृदय की भावनाएं अपने आस-पास की दुनिया की चीजों के बीच बहती हुई लोक-गीतों में चलती हैं। आस-पास की दुनिया की सरसता उजली धूप और मनोहर चाँदनी की भाँति लोक-गीतों में व्याप्त रहती है।

लोक-गीतों के मीठे स्वरों में युग-युग की पीड़ा-वेदना, युग-युग का हर्ष, रीति-नीति, प्रथा-गाथा, अचूक-सहज रूढ़ि-वार्ता, भौगोलिक एवं वातावरण-निर्मित संस्कृति-परम्परा ये सभी इन स्वरों में अपने नाम, धाम अथवा वंश आदि का परिचय देती प्रतीत होती हैं। नीरव उदास दोपहरी हो, चाहे रात्रि का दूसरा प्रहर; ये स्वर थमते नहीं। ऋतु-पर्व उत्सव की शत-शत स्मृतियाँ, आशा-प्रतीक्षा के शत-शत उपचार इन स्वरों में सजग हो उठते हैं।

इन लोक-गीतों के विविध रूपान्तर और एक-से भाव-चित्रों के विविध संस्करण लोक-मानव की एकता का परिचय देते हैं। पर स्वरों के विस्तार-प्रसार और चित्रों की बहुमुखी शैलियां लोक-गीतों की अग्रगामी शक्तियों का प्रमाण हैं।

इन लोक-गीतों में मानव-संस्कृति का सुन्दर एवं सरस आभास झलकता है। कहां किस आचार-विचार की छाप पड़ी

है, कहां किस वर्ग-विशेष की रीति-नीति प्रतिबिम्बित हो उठी है? कहां किस गाथा में एक वर्ग ने अपने दृष्टि-पथ में आने के सम्बन्ध में अपने निश्चित मत प्रकट किये हैं? सूर्य, चन्द्र, तारा—बादल, तूफान, बिजलियां—इनके सम्बन्ध में क्या-क्या सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, कौन-सी वस्तु शोक-प्रेरक है, कौन-सी प्रोत्साहक? कौन-सी वस्तु विजय-श्री का चिह्न है और कौन-सी पराजय अथवा निराशा का संकेत करती है—इन सब बातों की झलक हमारे लोक-गीतों में स्पष्ट दिखाई देती है। लोक-गीत लोक-जीवन का दर्पण है।

जीवन को नये कोमल रूप में देखने की चाह मनुष्य के हृदय में सदैव से छिपी रहती है। एक स्त्री जब किसी हरे वृक्ष अथवा बेल को पानी से सींचती है तो उसे विशेष आनन्द होता है। उसके हृदय में छिपी वात्सल्य की भावना ही उभर-कर सामने आती है और लोक-गीत के स्वरों में यह भावना झंकृत हो उठती है:—

'पेड़ धरि सिंचए नव रंगिया'

किसी लोक-गीत की यह पंक्ति उस रिवाज की याद दिलाती है जो प्राचीन काल में भारत में लगभग सभी जगह प्रचलित था। और आज भी कहीं-कहीं पाया जाता है। गोद भरने की कामना से लता, बेलों और हरे वृक्षों को स्त्रियां सींचती हैं, भारत से बाहर अमरीका में भी यह रिवाज है।

गोद भरने वाले की खुशी में एक-से-एक सुन्दर सोहर गाये जाते हैं और एक दिन मक्खन-सा कोमल, दूध का गाला-सा बच्चा इस दुनिया में अपनी गुलाब की पंखुड़ियों-जैसी हस्ती को लेकर उछाह में गाने वालियों के मुंह से हुलास-भरे गीत ठनकती हुई ढोलक के साथ सुनता है:—

कान्हा कुल मंडन प्रगट भये भूरि भाग
कृष्ण आठवें उदे रजनीश को।
पूरी है कुलाहल धुन धारा चारों ओर,
आनन्द को धन प्यारे बोलत असीस को।

'छठी' के दिन स्नान कराकर बच्चा लोगों को दिखाया जाता है और उसी दिन से दूध भी उसे पिलाया जाता है। विरादरी को भोज दिया जाता है। कहीं-कहीं इस भोज में हिरन का मांस भी बनाया जाता है। गीत गाने वाली औरतें इस अवसर पर सोहर में सुनाती हैं—पेड़ की घनी छांह में हिरनी हिरन से कहती है:—

'हिरना आज राजाजी के घर छटी
तुम्हें मारि डारि हैं।

हिरन मार डाला जाता है। दुखिया हिरनी मचिया पर बैठी कौशल्या से विनय करती है:—

'रानी मसवा न सिझहिं रोसइयां खलरिया हमें देतउँ
पेड़वा से टँगातिउँ खलरिया न हेरि फेरि देखितिऊँ
रानी देख देख मन समुझाय जनुक हिरन जीतइ"

हिरनी कौशल्या से कहती है कि मांस से तो रसोई बना लेना, किन्तु मेरे पति की खाल मुझे दे दो। पेड़ पर टांगकर (खाल को) उसे जब-तब देख लिया करूंगी। किन्तु कौशल्या कहती है—"मेरे राम के लिए इससे खंजरी मंढ़ी जायगी।" हिरनी निराश हो जाती है। जब-जब खंजरी बजती, हिरनी उसे सुन-सुन कर हिरन को बिसूरती है।

नामकरण, मुण्डन, जनेऊ, आदि संस्कार गीतों के प्रवाह में ही होते हैं। विवाह में पहले-पहल दुलहा-दुलहिन के हाथ मिलाये जाते हैं। शंख-घंटे जोर-जोर से बजाये जाते हैं और मंगल-चयनी मौके का गीत गाती हैं:—

थाली ठमकी रे वर वहुना हाथ मल्या
ढोल ढमक्यां रे वर वहुना हाथ मल्या
जाणे इस वर पारवती ना साथ मल्या
बाजा बाजा रे वर वहुना हाथ मल्या
जाणे दूध शक्कर ना हाथ मल्या

विवाह हो जाने पर विदाई की तैयारियां होने लगती हैं। दुलहिन को तैयार करना है। पुर-नारियां उसी तरह से गीत गाती है :—

रामचंदर न सीता भँवै छ
चल छै सीता म्हारा देशू जौला
गणपति न सिधि वुधि भँवै छ
चल छै सीता म्हारा देशू जौला
तुम्हारा देशु क्या फल दोंदा
हमरा देशू दाख दाड़िम, छोलँग बिजोरा
चल छै कोयल हमरा देशू जौला

रामचन्द्र ने सीता की भँवरियाँ भर ली हैं। चलती हो सीता, हमारे देश को चलें?

गणेश ने सिधि-वुधि के साथ फेरे फेर लिये हैं, चलती हो सिधि-वुधि हमारे देश को चलें

तुम्हारे देश में क्या-क्या फल होते हैं ?

हमारे देश में दाख, दाड़िम, छुहारे, बिजौरा होते हैं, चलती हो कोयल हमारे देश को चलें।

शहनाइयों के स्वर दुलहिन के प्राणों को रुलाने लगते हैं। विदाई का समय निकट आने लगता है। बेटी की विदाई निर्मोही ऋषियों के हृदय को भी पिघला देती है, फिर गृहस्थि-यों का तो कहना ही क्या? शकुन्तला को विदा करते हुए कण्व के आँसुओं को उनके मुख से निकले शब्दों ने—'अर्थो हि कन्या

कभी अपनी घरेलू जिन्दगी पर आँसू बहाती हुई वह सोचती है:—

सस्स पिहावे चकियां, सौहर घुटावे भंग, मैं वारी।
सस्स ने लाह चंदोडियां, सौहर ने लाह लये वंद, मैं वारी॥

कभी मायके की याद आ जाती है, तो गीले दर्द-भरे गीत गाती है:—

माल की धूगति वौं, चैंत भोदीं होली।
डाल्यौं मा हीलांसव्वे गीत गांदी होली।
धुघूती धूरालिवै ! डाल्यु डाल्यु माझ
चेतुज बुलालिग्वै वोई होली जौंली।

घर के भीतर-बाहर के सभी कामों में गीत उसके साथी रहते हैं। फाग, वसन्ती, मल्हार, भूमर, कजरी तरह-तरह के गीत उसके देश के रीति-रिवाजों, चाल-ढाल, रहन-सहन और खान-पान को बताते हैं।

पूजा, व्रत, त्योहारों के गीतों में रीति-रिवाजों की झलक खास तौर से होती है। जेठ की अमावस को नई सजधज के साथ सुहागिनें वट-वृक्ष के चारों ओर गीत गाती झूमती हैं। फूल, चावल, जल चढ़ाती हैं, बताशे बाँटती हैं। गीत कहता है:—

हरसित चललि अछय वट सजनि गे
गवइत मंगल खानि
घुमड़ि-घुमड़ि जल ढारल सजनि
बाँटत अछत सुपारि

सौभाग्य को अचल बनाये रखने के लिए आँखों में पान की बत्ती लगाकर नई सुहागिन को बत्ती से दागा जाता है और गाने वाली गाती है:—

साथ में वेली सकल जनती
मैं मेरी लाड़ो अकेली नी भेजूँ।

बराती राह में 'रसा के गीत नाचे सरों' खेलते हुए उसे ले आते हैं। दुलहिन वर के घर चली आती है। जहाँ तरह-तरह के गीतों, बाजों-गाजों से उसका स्वागत होता है। सखी-सहेलियों के बीच लाड़-प्यार से पलने लगती है। धीरे-धीरे उसका डर कम होता जाता है। नये घर में दूल्हे के प्रेम को पाने के लिए वह जगने लगती, है और सुहाग-रात के मीठे-मीठे गीत उस सांझ को उसके दिल में घर कर जाते हैं। वह मन-ही-मन गुनगुनाने लगती है:—

आजु सोहाग के रात चन्दा तुम उइ हो,
चंदा तुम उइ हो सुरूज मति उइ हो,
मारे हिदा बिरस जनि किहेउ मुरूग मति बोलेउ
मारे छतिया बिहरि जनि जाइ तु यह जिन फाटेउ
आजु करउ बड़ि रात चंदा तुम उइ हो
धिरे-धिरे चल मोरा सुरूज बिलम करी अइ हो।

नई दुनिया की इस बुलबुल को भी अपनी बस्ती हो जाती है। नई मांगें, नये शौक़, नई उलझनें सामने आती हैं और सबके बीच नदी की धार को तरह कभी उमंग से भरी, कभी लहराती हुई, कभी थपेड़े खाकर चूर-चूर होती, कभी फिर बिखरे अरमानों को समेटती सींचती हुई वह आगे चली ही चलती है। कभी बटलोही में चावल उबालते समय वह गाती है:—

उब्बल-उब्बल बटलोहिया नी,
लप्प चौलादी पावाँ
ने वीर दिट्ठा आयोंदा,
लध हारे वी पावाँ

परकीय एव'—लड़की दूसरे के लिए ही होती है—पोंछ लिया होगा, पर मोही माँ-बाप और उनकी लाड़ली दुलारी के आंसुओं को इस मौके पर कौन थाम सकता है ? लोक-गीत इस पत्थर को भी पिघला देने वाले नज़ारे में अपना कलेजा हाथ में लिये बढ़ते हैं। दुलहिन सोचती है:—

अये रे लोला वननी चरकलड़ी, उड़ी जाशु परदेश जो,
आज रे दादा जुना देश माँ, काले जाशु परदेश जो,

मैं तो वन में खेलती हुई चिड़िया थी, जिसे अब उड़कर परदेश चले जाना होगा। आज दादाजी के देश में मैं हूँ, कल को परदेश चली जाऊँगी।

दुलहिन नहीं चाहती, वह अपने माँ-बाप को छोड़कर दूसरे के घर में ऐसी जगह चली जाय जो कि काले कोहरे से ढके हुए बीहड़ पहाड़ों के पीछे कहीं है। जहाँ से अपना यह देश देखने को भी नहीं मिल सकता। अकेली वह कैसे जायगी। लोक-गीत उसकी ओर से भरे कण्ठ से अपील करता है:—

काला डाँडा पोर च काली कुण्ड़ी,
मैं मेरी माँ जी अकेली ना जाँदू।
मैं मेरी माँ जो दूखुली ना जाँदू
मैं मेरी माँ जी कनुकै की जो लौ
काला डाँड पीर च काली कुण्ड़ी

मेरी माँ, मैं अकेली नहीं जाती ! किस तरह जाऊं भी, काले डांडे के पार काले कुहरे की घनी माया है, मैं अकेली नहीं जाती।

माँ बाप धीर बँधाते हुए कहते हैं:—

तें मेरी धीया मैं अकेली नी भेजूँ
तें मेरी लाडी मैं अकेली नी भेजूँ
अगाड़ी ले जाऊँ ब्रह्मा की बेटा

साथ में वेली सकल जनती
मैं मेरी लाड़ो अकेली नी भेजूँ।

बराती राह में 'रसा के गीत नाचे सरौं' खेलते हुए उसे ले आते हैं। दुलहिन वर के घर चली आती है। जहाँ तरह-तरह के गीतों, बाजों-गाजों से उसका स्वागत होता है। सखी-सहेलियों के बीच लाड़-प्यार से पलने लगती है। धीरे-धीरे उसका डर कम होता जाता है। नये घर में दूल्हे के प्रेम को पाने के लिए वह जगने लगती, है और सुहाग-रात के मीठे-मीठे गीत उस सांझ को उसके दिल में घर कर जाते हैं। वह मन-ही-मन गुनगुनाने लगती है:—

आजु सोहाग के रात चन्दा तुम उइ हौ,
चंदा तुम उइ हौ सुरूज मति उइ हौ,
मारे हिदा बिरस जनि किहेउ मुरुग मति बोलेउ
मारे छतिया विहरि जनि जाइ तु यह जिन फाटेउ
आजु करउ बड़ि रात चंदा तुम उइ हौ
धिरे-धिरे चल मोरा सुरूज बिलम करी अइ हौ।

नई दुनिया की इस बुलबुल को भी अपनी बस्ती हो जाती है। नई मांगें, नये शौक़, नई उलझनें सामने आती हैं और सबके बीच नदी की धार की तरह कभी उमंग से भरी, कभी लहराती हुई, कभी थपेड़े खाकर चूर-चूर होती, कभी फिर बिखरे अरमानों को समेटती सींचती हुई वह आगे चली ही चलती है। कभी बटलोही में चावल उबालते समय वह गाती है:—

उब्बल-उब्बल. बटलोहिया नी,
लप्प चौलादी पावाँ
ने वीर दिट्ठा आयाँदा,
लध हारे वी पावाँ

कभी अपनी घरेलू जिन्दगी पर आँसू बहाती हुई वह सोचती है:—

सस्स पिहावे चक्कियां, सौहर घुटावे भंग, मैं वारी।
सस्स ने लाह चंदोडियां, सौहर ने लाह लये वंद, मैं वारी॥

कभी मायके की याद आ जाती है, तो गीले दर्द-भरे गीत गाती है:—

माल की धूगति बौं, चैंत भोदीं होली।
डाल्यौं मा हीलांसव्वे गीत गांदी होली।
धुघूती धूरालिवे ! डाल्यु डाल्यु माफ
चेतुज बुलालिग्वै बोई होली जौंली।

घर के भीतर-बाहर के सभी कामों में गीत उसके साथी रहते हैं। फाग, बसन्ती, मल्हार, झूमर, कजरी तरह-तरह क गीत उसके देश के रीति-रिवाजों, चाल-ढाल, रहन-सहन और खान-पान को बताते हैं।

पूजा, व्रत, त्योहारों के गीतों में रीति-रिवाजों की झलक खास तौर से होती है। जेठ की अमावस को नई सजधज के साथ सुहागिनें वट-वृक्ष के चारों ओर गीत गाती झूमती हैं। फूल, चावल, जल चढ़ाती हैं, बताशे बाँटती हैं। गीत कहता है:—

हरखित चललि अछय वट सजनि गे
गवइत मंगल खानि
घुमड़ि-घुमड़ि जल ढारल सजनि
बाँटत अछत सुपारि

सौभाग्य को अचल बनाये रखने के लिए आँखों में पान की बत्ती लगाकर नई सुहागिन को बत्ती से दागा जाता है और गाने वाली गाती है:—

लहु लहु धर सखि वाती
धड़काए कोमल छाती।
लहु लहु पान पंसारह
लहु लहु दृग दुहुँ झाँपह
मधुर-मधुर उठ दाहे
मधु श्रावणि भल काजे।

सावन की नाग-पंचमी को नाग-पूजा होती है, दूध-दही, खीर, धूप-दीप से नाग का सत्कार गीतों के साथ होता है। और मेघ से भी पानी देने की विनती की जाती है:—

बड़े गुसैयाँ पानी दे,
काला मेघा पानी दे
पानी दे, पानी दे, पानी दे
काला मेघा पानी दे

असौज कार्तिक के गाये जाने वाले गीतों में दुर्गा-पूजा, दीवाली, देव-यात्रा, युद्ध-यात्रा; जागरण, भडौल, पँवारे, रासा, आल्हा आदि के गीत नाच वाजे-गाजे के साथ बङ्गाल, विहार, उड़ीसा, यू. पी., राजस्थान, गुजरात आदि में अपने-अपने रीति-रिवाजों से गाये जाते हैं। यात्रा के गीतों में समाज के साथ लोग ढोल बजाते नाचते हुए

भगोती बधाण का नन्दा भगोती
तेरी जावा जौले।

जैसे गीत गाते हैं तो दो भागों में बँटकर वारी-वारी से मर्द और औरत—

मयनी उड़ दाम जिमि
आय मयना उड़ दाम जिमि
मयनी उड़ दाम जिमि जो

हम के दोवो हूँ हा
मयनी उड़ दाम जिमि—
मयनी संगा तू जिविस बेटी
तो जिवि, जिवि
हम की देखो ले हू लें
मयनी उड़ दाम जिमि

और गर्बा नृत्य में एक-एक कृष्ण के बीच एक-एक राधा गोलाई में झूमती लकुड़ बजाती बीच के राधा-कृष्ण के चारों ओर घूमती हुई मंडली गाती है :—

साँकीरी आम केरी झालरी, झालरी, झालरी
सुन्दरी उतरी संसार माँ।
जीवन ना सवार माँ कई स्वर्ग ना शरणारमाँ।
साँकीरी माय केरी—

जवानी के रंगीन दिन गीतों के रास-विलास में कटते हैं। इन गीतों से रीति-रिवाज भी रंगीन रहते हैं और जब जवानी ढलने लगती है तो गीत भी उसी ढाल पर भगवान् की भक्ति की ओर ढलने लग जाते हैं।

और एक दिन कफनी ओढ़ाये रंगीन दुनिया के इन्सान को लोग नचाते-नचाते, उसे उसके खेतों को दिखाते, जगह-जगह सत्तू के गोले रखते "उबरवी पुंगड़ी चैंजा मिया, सत्तू ठिंडी खैंचों मियाँ" (अपनी खेती बाड़ी को देखते जाओ) कहते हुए मरघट की ओर ले जाते हैं, जहाँ चिता उसका ढेर कर देती है।

जन्म से लेकर मृत्यु के दिन तक के हमारे रीति-रिवाज मनुष्य की जिन्दगी की तरह लोक-गीतों में पाये जाते हैं।

लोक-गीतों का साहित्य एक बहुत बड़ा साहित्य है। भिन्न-

प्रांतों के गीत भिन्न-भिन्न भाषा के हैं, किन्तु इनकी आत्मा अभिन्न है। भाषा का भेद होते हुए भी गीतों में व्याप्त भारतीय मानव का हृदय, उसके दुःख-सुख की अनुभूति, उसकी आशा और निराशा एक-जैसी ही हैं। शब्दों की दृष्टि से स्थान-स्थान के गीत अलग-अलग हैं—किन्तु उनमें समान अर्थ का धागा पिरोया हुआ है। नीले प्रकाश ने नीले प्रकृति के बहुरंगी परिवर्तन, युद्ध और शान्ति-प्रद जीवन के चित्र एवं नारी-हृदय की मानवीय जीवन पर हर्ष और विषादमयी छाया—ये इन गीतों के प्रधान विषय हैं जो हजारों कंठों से हजारों बार गाये जाने पर भी पुराने नहीं पड़ते। गीत मानो कभी न छीजने वाले रस के सोते हैं। वे कंठ से गाने के लिए और हृदय से आनन्द लेने के लिए हैं। आकाश में भरा हुआ शब्द जब गीत के रूप के प्रकट होता है, तब मानो मानव के चिरंजीवी भाव साकार हो उठते हैं। इन भावों का अध्ययन किसी भी जन-समुदाय के अन्तःकरण तक पहुंचने के लिए सीधा मार्ग कहा जा सकता है।

लोक-गीत जन-समुदाय की भावनाओं के रूप हैं। पुर, जनपद और जंगल सब ही मानो जनता की गीतात्मक प्रवृत्ति से भरे हैं। गीतों की दुनिया में कोल, भील, द्राविड़, शबर, मुण्डा, उरांव, गोंड आदि वनों में रहने वाली आदिम जातियों का भी उतना ही बड़ा भाग है जितना कि शहरों में और बस्तियों में रहने वाली जनता का। राष्ट्रीय दृष्टि से इन गीतों के संकलन की बड़ी आवश्यकता है।

अब तक लोक-गीतों के कुछ संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं। सर आर० सी० टेम्पल ने पंजाबी लोक-गीतों का संकलन बड़े परिश्रम से किया, किन्तु उनके संग्रह का कोई सुन्दर संस्करण प्राप्त नहीं। श्री झवेरचन्द मेघाणी ने 'रढियाली रात' के

नाम से गुजराती लोक-गीतों का संग्रह किया है। इधर श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारत-भूमि के ग्राम-ग्राम में घूमकर जिस अथक परिश्रम तथा लगन के साथ भारतीय लोक-गीतों का संग्रह करके उन्हें लिपिबद्ध किया है, उनका वह कार्य भुलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा संग्रहीत लोक-गीतों की नौ पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। लोक-गीत के क्षेत्र में सर्व प्रथम रामनरेश त्रिपाठी ने प्रयत्न किया। उनके बाद देवेन्द्र सत्यार्थी के अतिरिक्त मोतीलाल मेनारिया, लक्ष्मीलाल जोशी, जनार्दनराय नागर, श्यामचरण दुबे, कृष्णानन्द गुप्त और रामइकबालसिंह 'राकेश' आदि ने विभिन्न प्रान्तों में यह कार्य किया है। वास्तव में इस महान् कार्य के लिए किसी संगठित संस्था की आवश्यकता है। आशा है कि हमारे साहित्य-प्रेमी इस ओर ध्यान देकर भारत के ग्रामों, वनों, जंगलों और पहाड़ों में बिखरी हुई इस राष्ट्रीय लिपि का संग्रह करके साहित्य के भण्डार को भरपूर करेंगे।



: २० :
समालोचना

समालोचना साहित्य का माप-दण्ड है। यह साहित्य का संतुलित रूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। किसी साहित्यिक रचना के विषय में अपने विचारों को निष्पक्ष रूप से

अभिव्यक्त कर देने को ही हमारे आचार्यों ने 'समालोचना' का नाम दिया है। जिस प्रकार 'गद्य' कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार गद्य कवियों की कसौटी एवं निबन्ध गद्यकारों की कसौटी है, उसी प्रकार समालोचना सर्वाङ्गीण साहित्य की एक-मात्र कसौटी है। वस्तुतः स्वाध्यायपूर्ण अनुभूतियों के निष्पक्ष अभिव्यक्तीकरण को ही समालोचना कहते हैं। संस्कृत के 'सम्' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'लुच्' धातु से (जिसका अर्थ देखना होता है) अन्त में 'अन्' प्रत्यय और स्त्रीलिंग में 'टाप्' लगाने से 'समालोचना' शब्द का निर्माण हुआ है। इस प्रकार किसी वस्तु को अच्छी तरह देखकर उसके गुण-दोष-निरूपण कर देने का नाम समालोचना है।

शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार समालोचना के सामान्य, आदर्श, तुलनात्मक, ऐतिहासिक, चारित्रिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक आदि सात प्रकार हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिन सिद्धान्तों के आधार पर किसी कलाकार की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों या विषय के आधार पर उसी कोटि के लेखकों, कवियों एवं नाटककारों पर तीव्र आघात भी किये जाते हैं। इस प्रकार की 'आलोचना' को समालोचना नहीं कहा जा सकता। वास्तव में ऊपर निर्दिष्ट किये गए सिद्धान्तों के आधार पर की गई विवेचना ही समालोचना कही जा सकती है।

समालोचना की प्राचीनता एक-मात्र भारतीय है, इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। संस्कृत ग्रन्थों की समालोचना-प्रणाली 'लक्षण-ग्रन्थों' की परम्परा में हम देख सकते हैं। दण्डी का 'काव्यादर्श', राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा', मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' एवं

नाम से गुजराती लोक-गीतों का संग्रह किया है। इधर श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने भारत-भूमि के ग्राम-ग्राम में घूमकर जिस अथक परिश्रम तथा लगन के साथ भारतीय लोक-गीतों का संग्रह करके उन्हें लिपिबद्ध किया है, उनका वह कार्य भुलाया नहीं जा सकता। उनके द्वारा संग्रहीत लोक-गीतों की नौ पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। लोक-गीत के क्षेत्र में सर्व प्रथम रामनरेश त्रिपाठी ने प्रयत्न किया। उनके बाद देवेन्द्र सत्यार्थी के अतिरिक्त मोतीलाल मेनारिया, लक्ष्मीलाल जोशी, जनार्दनराय नागर, श्यामचरण दुबे, कृष्णानन्द गुप्त और रामइकबालसिंह 'राकेश' आदि ने विभिन्न प्रान्तों में यह कार्य किया है। वास्तव में इस महान् कार्य के लिए किसी संगठित संस्था की आवश्यकता है। आशा है कि हमारे साहित्य-प्रेमी इस ओर ध्यान देकर भारत के ग्रामों, वनों, जंगलों और पहाड़ों में बिखरी हुई इस राष्ट्रीय लिपि का संग्रह करके साहित्य के भण्डार को भरपूर करेंगे।



: २० :

समालोचना

समालोचना साहित्य का माप-दण्ड है। यह साहित्य का संतुलित रूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। किसी साहित्यिक रचना के विषय में अपने विचारों को निष्पक्ष रूप से

अभिव्यक्त कर देने को ही हमारे आचार्यों ने 'समालोचना' का नाम दिया है। जिस प्रकार 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' के अनुसार गद्य कवियों की कसौटी एवं निबन्ध गद्यकारों की कसौटी है, उसी प्रकार समालोचना सर्वाङ्गीण साहित्य की एक-मात्र कसौटी है। वस्तुतः स्वाध्यायपूर्ण अनुभूतियों के निष्पक्ष अभिव्यक्तीकरण को ही समालोचना कहते हैं। संस्कृत के 'सम्' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'लुच्' धातु से (जिसका अर्थ देखना होता है) अन्त में 'अन्' प्रत्यय और स्त्रीलिंग में 'टाप्' लगाने से 'समालोचना' शब्द का निर्माण हुआ है। इस प्रकार किसी वस्तु को अच्छी तरह देखकर उसके गुण-दोष-निरूपण कर देने का नाम समालोचना है।

शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार समालोचना के सामान्य, आदर्श, तुलनात्मक, ऐतिहासिक, चारित्रिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक आदि सात प्रकार हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जिन सिद्धान्तों के आधार पर किसी कलाकार की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों या विषय के आधार पर उसी कोटि के लेखकों, कवियों एवं नाटककारों पर तीव्र आघात भी किये जाते हैं। इस प्रकार की 'आलोचना' को समालाचना नहीं कहा जा सकता। वास्तव में ऊपर निर्दिष्ट किये गए सिद्धान्तों के आधार पर की गई विवेचना ही समालोचना कही जा सकती है।

समालोचना की प्राचीनता एक-मात्र भारतीय है, इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। संस्कृत ग्रन्थों की समालोचना-प्रणाली 'लक्षण-ग्रन्थों' की परम्परा में हम देख सकते हैं। दण्डी का 'काव्यादर्श', राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा', मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' एवं

इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदी जी का ही काम था और वे युग-द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। मिश्र-बन्धुओं' के 'हिन्दी-नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर 'सूर' और 'तुलसी'-जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृंगारी कवियों से प्रथक् और ऊंचा स्थान देने की सिफारिश की और दूसरी ओर भारतेन्दु-जैसे नई शैली के स्वदेश-प्रेमी को सम्मानित पद प्रदान किया। समालोचना की सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदी जी ने प्रस्तुत की यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा से आबद्ध करने का एक-मात्र कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

आधुनिक युग की समालोचना पर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य शुक्ल का पड़ा है। वे अपनी समीक्षा-पद्धति में मिश्र-बन्धुओं तथा पद्मसिंह शर्मा की अपेक्षा द्विवेदी जी के अधिक निकट थे। उनकी आलोचना में केवल गुण-दोष का ही कथन नहीं है, प्रत्युत उन्होंने पूर्वीय और पश्चिमीय समालोचना के सिद्धांत का भी अच्छा समन्वय किया है। उन्होंने कवियोंकी अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति और प्रेरणा का बड़ी सहानुभूति से अनुशीलन किया है। आपकी 'जायसी' और 'तुलसी' की समालोचनाएं बढ़कर पुस्तकाकार हो गई हैं। परन्तु 'सूर' के ऊपर लिखी गई आलोचना एक अच्छा प्रबन्ध है। इधर पिछले कई वर्षों में शुक्ल जी की आलोचना – परिपाटी के बहुत-से अनुयायी हुए हैं और उनकी लेखनी से हिन्दी के कीर्तिमान लेखकों और कवियों पर बहुत सुन्दर और सारपूर्ण समालोचनाएं

अच्छा कार्य किया। उनकी 'देव और बिहारी' तथा 'मतिराम' नामक समीक्षा-पुस्तकें कवि की अतर्प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं करतीं; अतएव वे अच्छी हैं।

हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के प्रचलित करने का एक-मात्र श्रेय पण्डित पद्मसिंह शर्मा को ही दिया जा सकता है। हिन्दी में वह वस्तुतः एक नई चीज थी। जिन दिनों पण्डित पद्मसिंह शर्मा इस क्षेत्र में आये, उन दिनों हिन्दी में अधिकांश 'रीति-काव्य' का ही प्रचलन था। थोड़ी-बहुत नवीन शैली की रचनाएं भी होने लगी थीं, किन्तु तुलना में वे रीति-काव्य से बहुत कम थीं। पण्डित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का आधार मुख्यतः रीति-कविता है, यद्यपि थोड़ा-बहुत नवीन साहित्य पर भी उन्होंने विचार किया है। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों प्रकार के काव्य-भेद उस समय प्रचलित थे उसी अनुपात में शर्मा जी ने उनका विवेचन किया। इस दृष्टि से वे अपने समय के प्रतिनिधि समालोचक कहे जा सकते हैं।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रन्थ लिखकर बिहारी की उत्कृष्टता दिखाई और मिश्रबन्धुओं ने देव को मूर्धन्य कवि ठहराया। इसी विवाद से प्रेरित होकर लाला भगवानदीन ने बिहारी का पलड़ा भारी करने के लिए 'बिहारी और देव' नामक आलोचना-ग्रन्थ लिखा। द्विवेदी-युग की महत्वपूर्ण आलोचना पुस्तक 'मिश्रबन्धु-विनोद' है; जिसमें नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों की सामग्री को ऐतिहासिक क्रम से रखने के साथ-साथ कवियों के विषय में छोटी-बड़ी-आलोचनाएं लिखने का भी प्रयत्न किया गया है।

द्विवेदी जी ने समीक्षा के ज्वलन्त पक्ष पर पूरा ध्यान दिया।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदी जी का ही काम था और वे युग-द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। मिश्र-बन्धुओं' के 'हिन्दी-नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर 'सूर' और 'तुलसी'-जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृंगारी कवियों से पृथक् और ऊंचा स्थान देने की सिफारिश की और दूसरी ओर भारतेन्दु-जैसे नई शैली के स्वदेश-प्रेमी को सम्मानित पद प्रदान किया। समालोचना की सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदी जी ने प्रस्तुत की यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा से आबद्ध करने का एक-मात्र कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

आधुनिक युग की समालोचना पर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य शुक्ल का पड़ा है। वे अपनी समीक्षा-पद्धति में मिश्र-बन्धुओं तथा पद्मसिंह शर्मा की अपेक्षा द्विवेदी जी के अधिक निकट थे। उनकी आलोचना में केवल गुण-दोष का ही कथन नहीं है, प्रत्युत उन्होंने पूर्वीय और पश्चिमीय समालोचना के सिद्धांत का भी अच्छा समन्वय किया है। उन्होंने कवियोंकी अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति और प्रेरणा का बड़ी सहानुभूति से अनुशीलन किया है। आपकी 'जायसी' और 'तुलसी' की समालोचनाएं बढ़कर पुस्तकाकार हो गई हैं। परन्तु 'सूर' के ऊपर लिखी गई आलोचना एक अच्छा प्रबन्ध है। इधर पिछले कई वर्षों में शुक्ल जी की आलोचना – परिपाटी के बहुत-से अनुयायी हुए हैं और उनकी लेखनी से हिन्दी के कीर्तिमान लेखकों और कवियों पर बहुत सुन्दर और सारपूर्ण समालोचनाएं

अच्छा कार्य किया। उनकी 'देव और
नामक समीक्षा-पुस्तकें कवि की अन्तर्प्र
करतीं; अतएव वे अच्छी हैं।

हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना
एक-मात्र श्रेय पण्डित पद्मसिंह शर्मा व
है। हिन्दी में वह वस्तुतः एक नई चीज
पद्मसिंह शर्मा इस क्षेत्र में आये, उन
'रीति-काव्य' का ही प्रचलन था। थो
रचनाएं भी होने लगी थीं, किन्तु तुल
बहुत कम थीं। पण्डित पद्मसिंह शर
मुख्यतः रीति-कविता है, यद्यपि अं
पर भी उन्होंने विचार किया है। ठी
प्रकार के काव्य-भेद उस समय प्रच
शर्मा जी ने उनका विवेचन किया।
के प्रतिनिधि समालोचक कहे जा स

पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'बिह
नामक ग्रन्थ लिखकर बिहारी की
मिश्रबन्धुओं ने देव को मूर्धन्य क
से प्रेरित होकर लाला भगवानदीन
करने के लिए 'बिहारी और दे
लिखा। द्विवेदी-युग की महत्वपूर्ण अ
विनोद' है; जिसमें नागरी-प्रचारि
की सामग्री को ऐतिहासिक क्रम से
के विषय में छोटी-बड़ी-आलोचनाए
किया गया है।

द्विवेदी जी ने समीक्षा के ज्वलन्त

इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदी जी का ही काम था और वे युग-द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। मिश्र-बन्धुओं' के 'हिन्दी-नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर 'सूर' और 'तुलसी'-जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृंगारी कवियों से प्रथक् और ऊंचा स्थान देने की सिफारिश की और दूसरी ओर भारतेन्दु-जैसे नई शैली के स्वदेश-प्रेमी को सम्मानित पद प्रदान किया। समालोचना की सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदी जी ने प्रस्तुत की यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा से आवद्ध करने का एक-मात्र कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

आधुनिक युग की समालोचना पर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य शुक्ल का पड़ा है। वे अपनी समीक्षा-पद्धति में मिश्र-बन्धुओं तथा पद्मसिंह शर्मा की अपेक्षा द्विवेदी जी के अधिक निकट थे। उनकी आलोचना में केवल गुण-दोष का ही कथन नहीं है, प्रत्युत उन्होंने पूर्वीय और पश्चिमीय समालोचना के सिद्धांत का भी अच्छा समन्वय किया है। उन्होंने कवियोंकी अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति और प्रेरणा का बड़ी सहानुभूति से अनुशीलन किया है। आपकी 'जायसी' और 'तुलसी' की समालोचनाएं बढ़कर पुस्तकाकार हो गई हैं। परन्तु 'सूर' के ऊपर लिखी गई आलोचना एक अच्छा प्रबन्ध है। इधर पिछले कई वर्षों में शुक्ल जी की आलोचना – परिपाटी के बहुत-से अनुयायी हुए हैं और उनकी लेखनी से हिन्दी के कीर्तिमान लेखकों और कवियों पर बहुत सुन्दर और सारपूर्ण समालोचनाएं

निकल रही है। स्व० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और श्री दुलारे वाजपेयी उनकी परम्परा के ही पोषक हैं।

अंग्रेजी ढंग की गम्भीर आलोचनाएं लिखने वालों में जी के उपरान्त बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम आता है। लोचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण करने और भाषा के स्वरूप से परिचय प्राप्त कराने में बाबूजी ने खु उद्योग किया है। बाबू जी का 'साहित्यालोचन' समीक्षा-शा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला एक-मात्र ग्रन्थ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में उन्होंने हिन्दी के इतिहास प्रामाणिक, विद्वत्तापूर्ण और निष्पक्ष समीक्षा का सिद्धान्त ए है। मौलिकता की कसौटी पर भले ही 'साहित्यालोचन' ए न उतरे, परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह साहित्य और उस विविध अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या अवश्य है।

शुक्लजी और बा० श्यामसुन्दरदास के बाद समालोचन की शास्त्रीय पद्धति का स्वरूप-निदर्शन कराने में पदुमला पुन्नालाल बख्शी का अपना स्थान है। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य विमर्श' (१९२४) और 'विश्व-साहित्य' (१९२४) आदि पुस्त लिखकर अपने विशाल अध्ययन और मनन का परिचय दिया। उनकी इन पुस्तकों में साहित्य के द्वारा मानव जाति में प्रेम और ऐक्य की भावना स्थापित करने का दिव्य सन्देश मिलता है। इसी काल में मायाशंकर याज्ञिक की 'रहीम की कविता' राम कृष्ण शुक्ल की 'प्रसाद की नाट्य-कला' 'आधुनिक हिन्दी कहानियों की भूमिका', डाक्टर रामकुमार वर्मा की 'कबीर का रहस्यवाद' आदि समालोचना के प्रन्थ प्रकाश[illegible] स

[illegible] गंगानाथ झा का 'कवि-रहस्य', [illegible]

'आलोचनादर्श' जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की 'प्रेमचन्द उपन्यास-कला' आदि पुस्तकें समीक्षा के उत्थान की द्योतक हैं।

आजकल समालोचना-साहित्य में खूब वृद्धि हो रही है र साहित्य के विभिन्न अंगों पर आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित रहे हैं। पं० कृष्णशंकर शुक्ल का 'केशव की काव्य-कला' ंविवर रत्नाकर' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' ादि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। श्री रामदास गौड़ की ़खी हुई तुलसी-कृत 'रामचरित-मानस' की भूमिका ी तुलसी-साहित्य में अपना विशेष गौरव का स्थान रखती है। ुलसीदास पर डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन' नके दार्शनिक पक्ष पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसी प्रकार सर्वश्री नलिनीमोहन सान्याल, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, सत्येन्द्र, नगेन्द्र आदि आलोचकों की विविध कवियों पर गम्भीर और खोजपूर्ण पुस्तकें निकल चुकी हैं। नलिनीमोहन सान्याल की 'भक्तवर सूरदास' वाजपेयी जी की 'सूर-सन्दर्भ' द्विवेदी जी का 'कबीर' और नगेन्द्र जी की 'पन्त और गुंजन' आदि पुस्तकें इसी विकास की परिचायक हैं। नगेन्द्र जी के 'आधुनिक हिन्दी नाटक' और सत्येन्द्र जी के 'हिन्दी एकांकी' में नाटकों के शिल्प-विधान के साथ-साथ नाटकों और एकांकियों का विवेचन है।

आजकल अधिकांश समालोचनाएं व्याख्यात्मक एवं शास्त्रीय ढंग की बौद्धिकता-प्रधान होती हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी इसी प्रकार के समालोचक हैं। सर्व श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल, डाक्टर रामकुमार वर्मा, रामकृष्ण शिलीमुख, सत्येन्द्र, नगेन्द्र और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि शास्त्रीय पक्ष की

ा 'आलोचनादर्श' जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' आदि पुस्तकें समीक्षा के उत्थान की द्योतक हैं।

आजकल समालोचना-साहित्य में खूब वृद्धि हो रही है और साहित्य के विभिन्न अंगों पर आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। पं० कृष्णशंकर शुक्ल का 'केशव की काव्य-कला' 'कविवर रत्नाकर' और 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। श्री रामदास गौड़ की लिखी हुई तुलसी-कृत 'रामचरित-मानस' की भूमिका भी तुलसी-साहित्य में अपना विशेष गौरव का स्थान रखती है। तुलसीदास पर डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन' उनके दार्शनिक पक्ष पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसी प्रकार सर्वश्री नलिनीमोहन सान्याल, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी-प्रसाद द्विवेदी, सत्येन्द्र, नगेन्द्र आदि आलोचकों की विविध कवियों पर गम्भीर और खोजपूर्ण पुस्तकें निकल चुकी हैं। नलिनीमोहन सान्याल की 'भक्तवर सूरदास' वाजपेयी जी की 'सूर-सन्दर्भ' द्विवेदी जी का 'कबीर' और नगेन्द्र जी की 'पन्त और गुंजन' आदि पुस्तकें इसी विकास की परिचायक हैं। नगेन्द्र जी के 'आधुनिक हिन्दी नाटक' और सत्येन्द्र जी के 'हिन्दी एकांकी' में नाटकों के शिल्प-विधान के साथ-साथ नाटकों और एकांकियों का विवेचन है।

आजकल अधिकांश समालोचनाएं व्याख्यात्मक एवं शास्त्रीय ढंग की बौद्धिकता-प्रधान होती हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी इसी प्रकार के समालोचक हैं। सर्व श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल, डाक्टर रामकुमार वर्मा, रामकृष्ण शिलीमुख, सत्येन्द्र, नगेन्द्र और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि शास्त्रीय पक्ष की

समालोचना करने वालों में अग्रणी हैं। द्विवेदी जी, श्री बख्शी जी और डाक्टर रामकुमार वर्मा आदि ने सन्त-साहित्य की भाव-धारा का रहस्य समझाने का सराहनीय प्रयत्न किया है। इनके अतिरिक्त डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का नामोल्लेख न करना भारी कृतघ्नता होगी। शुक्ल जी और बाबू श्यामसुन्दरदास के बाद हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य को श्री वर्मा जी ने एक नई गति, प्रेरणा और स्फूर्ति दी है। आप तुलनात्मक समालोचना के स्थान पर किसी भी वस्तु की खोज और उसके ऐतिहासिक पक्ष का समर्थन करने के पक्षपाती हैं। उद्धरण देकर आलोचना करने की एक नई शैली का आपने हिन्दी में प्रचलन किया है। श्री गुलाबराय एम० ए० अपनी दार्शनिक गम्भीरता एवं अध्ययनशील के लिए विख्यात हैं; उनकी आलोचना-पद्धति में आचार्य शुक्ल की प्रतिछाया भासित होती है। उनकी नवीनतम कृति 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' समालोचना-साहित्य की अपूर्व निधि हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी और डाक्टर हेमचन्द्र जोशी ने इधर हिन्दी में जो आलोचनाएं की हैं वे उल्लेखनीय हैं। उनकी आलोचनाओं का आधार मनोवैज्ञानिक है।

इधर कुछ दिन से प्रगतिवादी आधार पर साहित्य के मूल्य का अंकन करने वाले समालोचक भी हिन्दी में दिशा-निर्देश कर रहे हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में श्री शिवदानसिंह चौहान, डाक्टर रामविलास शर्मा, अज्ञेय, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, प्रभाकर माचवे, पद्मसिंह शर्मा कमलेश के नाम स्मरणीय हैं। शिवदानसिंह चौहान की 'प्रगतिवाद' डाक्टर रामविलास शर्मा की 'प्रगति और परम्परा' तथा 'संस्कृति और साहित्य' अज्ञेय की 'त्रिशंकु' प्रो० गुप्त की 'नया हिन्दी-साहित्य' आदि

पुस्तकें प्रगतिवादी दृष्टिकोण से लिखी गई हिन्दी-आलोचना की परिचायक हैं। समालोचना-पद्धति पर आचार्य श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' के अतिरिक्त डाक्टर सूर्यकान्त की 'साहित्य-मीमांसा' रामदहिन मिश्र की 'काव्यालोक', विश्वनाथप्रसाद मिश्र की 'वाङ्मय विमर्श', सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' आदि पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं। हर्ष की बात है कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य दिन-प्रति-दिन उन्नति कर रहा है; किन्तु अभी उसमें ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना की कमी है।

